अंक : ११६

अक्तूबर-दिसंबर २०११

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

कहानियां

सुशांत सुप्रिय • डॉ. रमाकांत शर्मा

डॉ.भाग्यश्री गिरी • प्रशांत कुमार सिन्हा • डॉ. निरुपमा राय

सागर-सीपी

डॉ. इला प्रसाद

•

आमने-सामने

डॉ. निरुपमा राय

१५ रुपये

अक्तूबर-दिसंबर २०११

(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना "अरविंद"
संपादिका
मंजुश्री
संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
जय प्रकाश त्रिपाठी
अश्विनी कुमार मिश्र
हम्माद अहमद ख़ान

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

●सदस्यता शुल्क●
आजीवन : ५०० रु., **त्रैवार्षिक** : १२५ रु.,
वार्षिक : ५० रु.,
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
कृपया सदस्यता शुल्क चैक (कमीशन जोड़कर), मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट द्वारा केवल "**कथाबिंब**" के नाम ही भेजें.

●रचनाएं व शुल्क भेजने का पता●
ए-१० बसेरा, ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई-४०० ०८८.
फोन : २५५१ ५५४१, ९८१९१६२६४८

● **न्यूयॉर्क संपर्क** ●
Naresh Mittal, Gerard Pharmacy,
903 Gerard Avenue, Bronx NY 10452
Tel : 718-293-2285, 845-304-2414 (M)

●"**कथाबिंब**" **वेबसाइट पर उपलब्ध**●
www.kathabimb.com

e-mail : kathabimb@yahoo.com

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु १५ रु. के डाक टिकट अवश्य भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

।। ७ ।। कैसे हंसूं ? – **सुशांत सुप्रिय**
।। १३ ।। शायद आसिफ भी यही सोच रहा होगा – **डॉ. रमाकांत शर्मा**
।। १९ ।। टुकड़े-टुकड़े काग़ज़ – **डॉ. भाग्यश्री गिरी**
।। २३ ।। कंबलदान – **प्रशांत कुमार सिन्हा**
।। ३९ ।। राम लखन का ... – **डॉ. निरुपमा राय**

लघुकथाएं

।। २२ ।। बेताल फिर डाल पर... / **आलोक कुमार सातपुते**
।। ३७ ।। हम मीडिया वाले / **आनंद बिल्थरे**
।। ४३ ।। मुआवजा / **ज्ञानदेव मुकेश**

कविताएं / ग़ज़लें

।। १२ ।। क्या मैं अन्ना हूं ? / **घनश्याम अग्रवाल**
।। १८ ।। ग़ज़लें / **डॉ. नसीम अख़्तर**
।। २१ ।। ख़ौफ़ / **दीपक खेतरवाल**
।। २२ ।। ग़ज़ल / **अनिल पठानकोठी**
।। २२ ।। ग़ज़ल / **अंकित "सफ़र"**
।। ३१ ।। ग़ज़लें / **वीनस केशरी**
।। ५० ।। काश, मां के पास होते ! / **संतोष कुमार तिवारी**

स्तंभ

।। २ ।। "कुछ कही, कुछ अनकही"
।। ४ ।। लेटर बॉक्स
।। ३३ ।। "आमने-सामने" / **डॉ. निरुपमा राय**
।। ३८ ।। "सागर-सीपी" / **डॉ. इला प्रसाद**
।। ४४ ।। "बाइस्कोप" (*सविता बजाज*) / **पं. सत्यदेव दुबे**
।। ४६ ।। पुस्तक-समीक्षाएं

आवरण चित्र : बंसीलाल परमार
सुवासरा, मंदसौर (म. प्र.)

"कथाबिंब" मुंबई की "संस्कृति संरक्षण संस्था" के सौजन्य से प्रकाशित होती है.

कुछ कही, कुछ अनकही

इस अंक के साथ *"कथाबिंब"* प्रकाशन के ३३ वर्ष पूरे हुए हैं. अब कहीं जाकर पत्रिका आर्थिक तौर पर आत्मनिर्भर हो पायी है. पाठकों और लेखकों का सहयोग तो हमें निरंतर मिलता ही रहा है. किंतु अब कुछ विज्ञापन दाताओं ने भी नियमित सहयोग देने का आश्वासन दिया है. *"कथाबिंब"* का प्रत्येक अंक अब छपते ही वेब-साइट पर भी उपलब्ध हो जाता है. आप २००७ में प्रकाशित जुलाई-दिसंबर संयुक्तांक के बाद के सभी अंक वेब-साइट पर देख, पढ़ सकते हैं. ई-मेल द्वारा रचनाएं भेजना भी अब संभव होगा. रचना किसी भी सॉफ्टवेयर में हो किंतु साथ में *"पीडीएफ"* फाइल भी संलग्न करें. आपको साथ में यह भी घोषणा करनी होगी कि निर्णय आने तक रचना प्रकाशनार्थ अन्य किसी पत्रिका में नहीं भेजी जायेगी.

पिछले वर्षों की तरह, अंक के अंतिम पृष्ठ पर *"कमलेश्वर-स्मृति कथाबिंब कथा पुरस्कार"* हेतु अभिमत भेजने के लिए अभिमतपत्र दिया जा रहा है. पाठकों से अनुरोध है कि वे अधिक से अधिक संख्या में अपने अभिमत हमें भेजें. अपरोक्ष रूप में इस आयोजन से हमें आपकी रुचि का भी पता लगता है कि पाठकों को किस तरह की कहानियां अच्छी लगती हैं.

●

अब इस अंक की कहानियों के बारे में कुछ कही, कुछ अनकही – सुशांत सुप्रिय *"कथाबिंब"* के पाठकों के लिए नया नाम नहीं है. आज विडंबना है कि हम चाहकर भी प्रसन्न नहीं हो पाते. आदमी एक ऐसे चक्रव्यूह में फंस गया है जिससे बाहर आना संभव नहीं है. कोई ईमानदार रहना चाहे, सीधी राह पर चलना चाहे तो भी स्थितियां उसे चारों ओर से जकड़ लेती हैं. इसी को कहानी *"कैसे हंसूं"* में सुशांत जी ने रेखांकित किया है. अगली कहानी *"शायद आसिफ भी यही सोच रहा होगा"* (डॉ. रमाकांत शर्मा) एक उभरते हुए शायर की कहानी है. यह शायरी ही है जो उसे विपरीत परिस्थितियों से जूझने की ताकत देती है. बहुत ही सूक्ष्मता से डॉ. रमाकांत शर्मा ने साहित्य के इस पक्ष को सामने रखा है. डॉ. भाग्यश्री गिरी मराठी लेखिका हैं. संभवतः *"टुकड़े-टुकड़े काग़ज़"* मूल हिंदी में लिखी उनकी पहली कहानी है. यह भारत के किसी भी गांव की आम लड़की की कहानी हो सकती है जिसे वर्जनाओं के कारण अधिक पढ़ने नहीं दिया जाता है. लड़की के जन्म के साथ ही मां-बाप को उसकी शादी की चिंता सताने लगती है. प्रशांत कुमार सिन्हा की कहानी *"कंबलदान"* में एक बार फिर हमें आम आदमी दिखाई देता है जो जी तोड़ मेहनत-मजूरी से नहीं घबराता लेकिन फिर भी अपने छोटे से परिवार की मौलिक ज़रूरतों को पूरा नहीं कर पाता. बच्चों को ठंड से बचाने के लिए एक अच्छा कंबल बहुत ज़रूरी है. पर यह कंबल मिले तो कैसे ? मत-दान में उसका वोट पहले से ही पड़ जाता है इससे उसे कतई फ़र्क नहीं पड़ता. अंक की पांचवी और अंतिम कहानी *"राम लखन का ..."* (डॉ. निरुपमा राय) हमें भावनाओं के एक अलग ही धरातल पर ले जाती है.कहानी में, बचपन का बहन-भाई का स्नेह-बंधन समय के साथ और प्रगाढ़ होता है. पर कोई भी संबंध कालातीत नहीं होता. संयोग और वियोग काल चक्र के ही दो हिस्से हैं.

●

काल का चक्र अबाध गति से चलता रहता है. धरती लगातार सूर्य की परिक्रमा करती है और मौसम आते-जाते रहते हैं : सर्दी, गर्मी और बरसात. लेकिन देश का आम आदमी जिसे रोज़ कुंआ खोदकर ही पानी पीना है उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता. सारी सर्दी वह ठिठुरते गुज़ारता है, फिर आती है गर्मी, अगर किसी तरह गर्मी से बच गया तो बरसात में अतिवृष्टि के कारण आयी बाढ़ से बच पाना मुश्किल हो जाता है. हम साहित्यकारों को भी सोचना चाहिए कि हमारी समस्त सर्जना में यह आम आदमी कितना स्थान पाता है. यह तो तय है कि सरकार जो नीतियां बनाती है, योजनाएं बनाती है उनसे आम आदमी की परिस्थिति में किंचित मात्र भी अंतर नहीं आता.

अगले दो महीनों में पांच राज्यों में विधान सभा के चुनाव होने हैं. हर राजनीतिक दल जाति और समुदायों के जोड़-तोड़ के गणित में लगा है. स्वयं को धर्मनिरपेक्ष कहने वाली कॉन्ग्रेस तय नहीं कर पा रही है कि अल्पसंख्यकों को कितने प्रतिशत आरक्षण किस कोटे में मिले. यह आश्चर्य की बात है कि नेताओं के लिए अल्पसंख्यकों से सीधा-सीधा मतलब मुसलमानों से होता है, जबकि जैन और इसाई कहीं अधिक अल्पसंख्यक हैं. उत्तर प्रदेश में आचार-संहिता के नाम पर पत्थर के हाथियों को ढकने और सुश्री मायावती की मूर्तियों को लकड़ी के तख़्तों के पीछे छुपाने में रातों-रात करोड़ों का ख़र्चा किया गया. २००४ के लोकसभा के चुनाव के समय भी नवनिर्मित महामार्गों पर लगे श्री अटल बिहारी बाजपेयी के चित्रों को भी ढका गया था. यह सरासर जनता के पैसों का अपव्यय है. चुनाव आयोग के इस क़दम से बसपा का मुफ़्त प्रचार हुआ कि अब उसे और पब्लिसिटी की आवश्यकता नहीं. जोड़-तोड़ के इस मौसम में चौधरी चरण सिंह जिनका कहना था कि हर मंत्री

का सपना प्रधान मंत्री बनना होता है और अंततः इन्होंने बिना बहुमत प्राप्त किये प्रधान मंत्री पद से इस्तीफ़ा दे दिया था. इन्हीं के सुपुत्र, जाटों के मसीहा चौधरी अजित सिंह ने कॉन्ग्रेस के साथ गठबंधन कर लिया है. उनकी केवल एक ही शर्त थी कि कबीना मंत्री बनाकर उड्डयन मंत्रालय उनके हवाले कर दिया जाये. अब ऐसे में प्रफुल्ल पटेल क्या करें. उन्हें तो डूबती नैय्या से कूदने का अच्छा मौक़ा मिल गया. उड्डयन मंत्रालय का कांटों भरा ताज अजित सिंह जी आपको मुबारक. आज न किसी को दल-बदल कानून की याद है न ही उसकी चिंता है. चुनावों का मौसम आते ही कपड़े बदलने की तरह लोग पाला बदलते हैं. छोटी-छोटी इतनी पार्टियां हो गयी हैं कि कोई भी इधर से उधर आ-जा सकता है. ज़्यादा से ज़्यादा पार्टी से निकाल ही तो दिया जायेगा. कॉन्ग्रेस के लिए उत्तर प्रदेश का चुनाव बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि कॉन्ग्रेस जीतती है तो युवराज के लिए प्रधानमंत्री पद पक्का हो जाता है. देखना है कि ऊंट किस करवट बैठता है.

पिछले दो-तीन दशकों से लगभग हर वर्ष तीन मौसमों के साथ देश में चौथा मौसम चुनाव का होने लगा है. इसका कारण कुछ नये राज्यों का निर्माण और कुछ राज्यों में असमय हुए मध्यावधि चुनाव हैं. लोकसभा के साथ ही राज्यों की विधानसभाओं के भी चुनाव कराना आज भारत जैसे लोकतांत्रिक देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है. हर समय, प्रत्येक बड़ी राजनीतिक पार्टी प्रति वर्ष चुनाव के "मोड" में क्यों रहे ? सारे देश में चुनाव पांच साल में एक ही बार होने चाहिए. इससे धन का, समय का अपव्यय रोका जा सकता है. चुनाव आयोग भी, पांच साल में पूरी तैयारी से, अच्छी तरह योजनाबद्ध तरीके से चुनाव करवा सकेगा. चाहें केंद्र हो या प्रदेश की सरकारें वे अपना ध्यान अच्छी तरह जनता की सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने में लगा सकेंगी. इसके लिए सब राजनीतिक दलों की सहमति से संसद का एक विशेष अधिवेशन बुला कर संविधान में आवश्यक संशोधन किया जा सकता है. संविधान कोई गीता, कुरान या बाइबिल नहीं है. अब तक उसमें सौ के आस-पास संशोधन हो चुके हैं. इसी संदर्भ में, यह भी संशोधन होना चाहिए कि सत्ताधारी दल बिना चुनाव की अग्निपरीक्षा से निकले किसी भी व्यक्ति को प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री या मंत्री नहीं बना सकता. तभी सही रूप में हम भारत को एक लोकतांत्रिक देश कह पायेंगे.

वर्ष के ख़त्म होते-होते भी लोकपाल बिल पारित नहीं हो पाया. शीतकालीन अधिवेशन में जो बिल लोकसभा में पेश किया गया था उसके मसौदे से अन्ना हज़ारे ख़ुश नहीं थे. उनके पास तीसरी बार अनशन करने के अलावा कोई उपाय नहीं था. यह तय हुआ कि सर्दी के प्रकोप से बचने के लिए मुंबई में अनशन आयोजित किया जायेगा. अन्ना की टीम ने वीटी स्टेशन के पास के आज़ाद मैदान में अनशन करने की अनुमति मांगी थी पर जान-बूझकर वहां के लिए अनुमति नहीं दी गयी. अनुमति मिली बांद्रा-कुर्ला कॉम्प्लेक्स के मैदान के लिए. यह मैदान मुख्य मुंबई से बहुत दूर है और आवागमन इतना आसान नहीं है. बहुत से मुंबई वासियों को भी पता नहीं है कि मैदान में कैसे पहुंचें. प्रचार किया जाने लगा कि अन्ना को इस बार समर्थन नहीं मिला. उधर राज्यसभा में आधी रात तक ड्रामा चला और संयोग कि अन्ना जी की तबियत ख़राब हो गयी. डॉक्टरों की सलाह पर उन्होंने अनशन वापस ले लिया. अन्ना स्वस्थ रहेंगे तो भविष्य में भी वे आंदोलन को नेतृत्व प्रदान करते रहेंगे. लोकपाल बिल के माध्यम से अन्ना ने भ्रष्टाचार मिटाने के लिए एक मशाल जलायी है. अब यह हमारा और आपका दायित्व बनता है कि यह मशाल हमेशा जलती रहनी चाहिए. लालू और मुलायम सिंह ऐसे नेता लोकपाल और लोकायुक्त की नियुक्ति के पूरी तरह खिलाफ़ हैं. यही लोग महिला आरक्षण बिल का भी विरोध करते रहे हैं. हाल ही में लोकायुक्त के आदेश पर मध्य प्रदेश में, इंदौर और उज्जैन में कुछ सरकारी लोगों के घर पर छापे मारे गये. इन लोगों की तनख़्वाह छठे वेतन आयोग के वेतनमान लागू होने के बाद पंद्रह-बीस हज़ार रुपये हुई है, पर पूरी संपत्ति की कीमत ३०-४० करोड़ रुपये आंकी गयी. धीरे-धीरे और भी मामले सामने आ रहे हैं. हर राज्य में यदि लोकायुक्त नियुक्त हो जाये और जनता की शिकायतों को प्रभावी ढंग से निपटाये तो बहुत कुछ हो सकता है. सूचना के अधिकार के लिए भी अन्ना हज़ारे ने लंबा आंदोलन किया था. जनता द्वारा इस अधिकार का उपयोग भी बहुत कुछ परिवर्तन ला सकता है.

●

आज अनेक क्षेत्रों मे कंप्यूटर के उपयोग ने हमें काफ़ी सुविधाएं प्रदान की हैं. रेल्वे टिकटों का आसानी से आरक्षण इसका सबसे बड़ा उदाहरण है. डाक विभाग में भी कंप्यूटर का उपयोग बख़ूबी होने लगा है. किंतु कंप्यूटर द्वारा मनीऑर्डर भेजने पर आप कोई संदेश नहीं भेज सकते न ही प्राप्तकर्ता को यह जानकारी हो पाती है कि यह मनीऑर्डर आया कहां से. संबंधित अधिकारियों से हमारा यह सुझाव है कि भेजने वाले का पता कंप्यूटर द्वारा ही मनीऑर्डर फॉर्म के एक ऐसे हिस्से पर भी छापा जाये जो डाकिया फाड़कर प्राप्तकर्ता को दे सके, जैसा पहले होता था. यह कोई मुश्किल काम नहीं है.

अरविंद

लेटर-बॉक्स

▶▶ यह 'कथाबिंब' को मेरा पहला पत्र है. पहली बार श्री अखिलेश शुक्ल जी के ब्लॉग 'कथाचक्र' पर मुझे इस पत्रिका के बारे में जानकारी मिली. इस बात को क़रीब एक साल होने को आया हैं. तबसे मैं बराबर इंटरनेट पर आपकी पत्रिका पढ़ता रहता हूं. चूंकि मैं हिंदी ब्लॉगिंग भी करता हूं इसलिए मेरा काफ़ी समय इंटरनेट पर व्यतीत होता है. इतने लंबे समय तक सफलतापूर्वक एक हिंदी पत्रिका का संचालन करना आपके धैर्य, परिश्रम एवं दृढ़ संकल्प का ज्वलंत प्रमाण है. 'कथाबिंब' में अनुभवी साहित्यकारों के साथ ही नवोदित लेखकों को भी स्थान मिलता है. संपादकीय तो ख़ैर पठनीय होता ही है, विभिन्न स्तंभ भी आकर्षक होते हैं. इसके स्तंभ 'सागर सीपी' का तो मैं जबर्दस्त फ़ैन हूं. पत्रिका में सबसे पहले इसी स्तंभ को पढ़ता हूं. आपकी इस बात के लिए प्रशंसा करता हूं कि आपने इस पत्रिका को इंटरनेट पर भी उपलब्ध करवा रखा है. ताकि इंटरनेट पर अधिक समय व्यतीत करने वाले भी आसानी से इस पत्रिका के पाठक बन सकें. पत्रिका की उत्तरोत्तर प्रगति के लिए शुभकामनाओं के साथ

घनश्याम मौर्य

अनुसंधान अभिकल्प व मानक संगठन,
रेल्वे मंत्रालय, लखनऊ-२२६०११

▶▶ 'कथाबिंब' का जुलाई-सिंत. २०११ का अंक मिला. आभारी हूं. आपने मेरा इंटरव्यू प्रकाशित किया, इसके लिए भी आभारी हूं. पत्रिका देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई है. अपने सीमित कलेवर में साहित्य के व्यापक संसार को समाने की चेष्टा है. आपके संपादकीय ने मुझे प्रभावित किया है. आपकी तरह देश-चिंता तथा लोकतंत्र की चिंता करने वाले लोग धीरे-धीरे कम हो रहे हैं. चारों ओर लूट, भ्रष्टाचार, अनाचार, पाशविकता का लोकतंत्र बनता जा रहा है. देश के अपढ़, देश-प्रेम से विहीन, स्वार्थी नेता लोकतंत्र को चला रहे हैं. अब जनता को जागना होगा. अन्ना यह काम कर रहे हैं किंतु उन्हें भी सरकार धाराशायी करने पर तुली है. लोकतंत्र की वर्तमान व्यवस्था के बदले बिना सच्चा लोकतंत्र नहीं आ सकता.

डॉ. कमल किशोर गोयनका

ए-९८, अशोक विहार, फेज-प्रथम
दिल्ली-११००५२

▶▶ जुलाई-सितं. २०११ अंक की सामग्री में डॉ. गोयनका जी से साक्षात्कार की ओर मन और आंखें सबसे पहले स्थिर हो गयीं. गोयनका जी पर अब तक अनेक साक्षात्कार पढ़ने को मिले हैं, हरेक में ताज़गी. मिली. इसमें भी क़रीबन ऐसा ही अनुभव हुआ.

डॉ. सुधा जी ने प्रवासी साहित्यकारों, उनकी रचनाधर्मिता तथा अन्य अवदान पर सांकेतिक प्रश्न प्रस्तुत करते हुए वरिष्ठ साहित्यकार के सोच और चिंतन को विभिन्न स्तरों पर खंगालकर उनके बेबाक विचारों को प्रस्तुत किया है. इस साक्षात्कार के जरिए प्रवासी भारतीयों के अनेक सुख-दुःख, जीवन-संघर्ष तथा नयी संस्कृति में जीने की विवशता को समझने का अवसर मिला है. यह साक्षात्कार संग्रहणीय इसलिए है कि इसमें व्यक्तिपरक आत्ममुग्धता नहीं समष्टिपरक चेतना है.

डॉ. इला प्रसाद की कहानी लंबे अरसे बाद पढ़ने को मिली. इस कहानी में भी अंतर्वस्तु तथा शिल्प-परिवेश की ताज़गी है, अमर स्नेह की कहानी मन को छू जाती है. वे चरित्र को घटना में उकेरते हैं, घटना में चरित्र को नहीं इसीलिए उनका अंदाज हमेशा अलग होता है. ग़ज़लों की दुनिया के बीच डॉ. प्रभा जी की "ख़बरों की दुनिया" सामयिक ज़िंदगी पर प्रभावी कविता है.

डॉ. सतीश दुबे

७६६, सुदामा नगर, इंदौर-४५२००९

▶▶ 'कथाबिंब' का जुलाई-सितं २०११ अंक मिला. 'कुछ कही, कुछ अनकही' गागर में सागर की तरह है; जिसके माध्यम से देश की तमाम घटनाओं की जानकारी सटीक व्याख्या सहित मिल जाती है. 'सागर-सीपी' के द्वारा प्रवासी साहित्य के संदर्भ में विस्तृत व व्यापक तथ्यों को उपलब्ध करवाया गया है. इसके लिए डॉ. कमल किशोर गोयनका और डॉ. सुधा ओम ढींगरा दोनों बधाई के पात्र हैं. 'आमने-सामने' मुकेश शर्मा के जीवन से रू-ब-रू होने का अवसर तो प्रदान करता ही है, इसके साथ यह भी बतलाता है कि शर्माजी ने किस प्रकार चुनौतियों का मुकाबला करते हुए यह मुकाम हासिल किया.

राजेंद्र वर्मा की कहानी 'नवारंभ' यथार्थपरक और सार्थक कहानी है जबकि अमर स्नेह की कहानी 'मां तुम कहां हो!' संवेदनशील व मार्मिक. ललित निरंजन की कहानी

'नहीं, वह गंगा ही था,' भी अच्छी लगी.

'बाइस्कोप' के अंतर्गत सविता बजाज का शायर व संवाद लेखक सुदर्शन के जीवन पर से पर्दा उठानेवाले भावना प्रधान व मार्मिक आलेख में उद्धृत कलाम ने मुझे यह गुनगुनाने के लिए विवश कर दिया.

"ये दौलत भी ले लो,
ये शोहरत भी ले लो,
भले छीन लो मुझसे मेरी जवानी,
मगर मुझको लौटा दो बचपन का सावन.
वो काग़ज़ की कश्ती
वो बारिश का पानी."

— मुकुंद लाल
डीपूगढ़ा, शिवमंदिर के पास,
हजारीबाग (झारखंड)

▶▶हरियाली में ख़ुशहाली का संदेश देता अंक ११५ पढ़ा. राजेंद्र वर्मा की कहानी 'नवारंभ' उन लोगों के लिए अच्छा सबक है. जो सेवा निवृत्त हो चुके हैं या होनेवाले हैं. 'नहीं, वह गंगा ही था' एवं 'छोटे लोग, बड़े लोग' मानवीय व्यवहार एवं संस्कारों की स्तरीय कहानियां थीं, अमर स्नेह की कहानी 'मां, तुम कहां हो!' मन को झकझोर देनेवाली कहानी थी. मां के गर्भ में जब बच्चा विकसित होता है, तभी मां को अनगिनत दर्दों से गुज़रना पड़ता है. फिर प्रसव वेदना तो साक्षात मौत से लौटा लेने जैसी प्रक्रिया होती है. ऐसी अनगिनत दुःख तकलीफों को झेलकर मां अपने बेटे को इस लायक बनाती है, फिर औलाद आख़िर किस मिट्टी की बनने लगी है कि मां बाप को सहारा न देकर उन्हें बोझ समझने लगी है. 'सागर-सीपी' में डॉ. कमल किशोर गोयनका की साहित्य साधना मन को छू गयी. 'वातायन' में भारतरत्न पर टिप्पणी मौजू हालात पर विचारणीय है. संपादकीय में आपके द्वारा उठाये गये मुद्दे ज्वलंत व सामयिक हैं.

अर्जुन सिंह 'अंतिम'
सती विहार, धामनोद,
जिला-धार (म. प्र.)-४५४५५२

▶▶कथाबिंब अंक ११४ तथा ११५ दोनों मेरे समक्ष हैं. दोनों आदि से अंत तक पढ़ने के पश्चात पत्र लिखने हेतु मन ने बाध्य किया है, जिसे रोक नहीं पाया हूं. संपादकीय उत्कृष्ट है, संपूर्ण अंक का मंथन होता है जिसमें सूक्ष्म विवरण-सारांश प्रथम दृष्ट्या ही मिल जाता है.

अंक ११४ में कहानियां सभी अच्छी हैं किंतु 'बंद ताला' डॉ. मीनाक्षी स्वामी मन को छू गयी और सभी स्तंभ उत्तम हैं. कविताएं दिल में उतर जाती हैं. डॉ. किशोर काबरा की दोनों ग़ज़लें, एक गीत, डॉ. सुदर्शन प्रियदर्शनी की कविता 'मां' अच्छी है. अंक ११५ में संपादकीय और उससे आगे कथा कहानी में राजेंद्र वर्मा की 'नवारंभ', डॉ. इला प्रसाद की कहानी 'दबंग' जिसमें अमेरिका में शिक्षक और छात्र के संबंध तथा शिक्षा प्रणाली से अवगत कराया गया है. वे विदेश में रहते हुए हिंदी भाषा के विकास में सहयोग कर रही हैं. यह सराहनीय है. मैंने उनके द्वारा संपादित 'सहयोग पत्रिका', 'शोध दिशा' बिजनौर प्रवासी कहानी अंक को भी पढ़ा था. 'सागर सीपी' में डॉ. कमल किशोर गोयनका, ग़ज़ल में डॉ. वी. पी. दुबे अच्छे लगे है.

एम. डी. मिश्रा 'आनंद'
मिश्रा मार्केट, मेन रोड,
पृथ्वीपुर (टीकमगढ़) म.प्र.-४७२३३६

▶▶कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका 'कथाबिंब' अविलंब पढ़ने की हार्दिक इच्छा मन में सदैव बनी रहती है. इसका प्रत्येक अंक स्तरीय होता है. अंक ११५ तो अपने आपमें एक अनूठा अंक है. अन्नागिरी-गांधीगिरी आजकल सब है फ्री. हो सके तो आज से ही अच्छे कार्य कीजिए, रिश्वत में अमेरिका यदि पाकिस्तान भी दे कभी मत लीजिए जी, कभी मत लीजिए. क्योंकि सदैव सब कुछ अच्छा ही अच्छा नहीं होता है, समय के आगे बूढ़ा जवान कोई बच्चा नहीं होता है. 'कथाबिंब' की समस्त सामग्री पढ़ने से तब तक लाभ नहीं होता है जब तक अलौकिक मन सच्चा नहीं होता है. बेटी आशा होती है, यानी कबीरा की प्रेममयी भाषा होती है. बेटी को ही भारत रत्न प्रदान करने की अभिलाषा होती है. 'कुछ कही, कुछ अनकही' ही पढ़कर तो कथाबिंब का पूर्ण इतिहास स्पष्ट हो जाता है. लघुकथा 'नन्हीं चिड़िया' मर्मस्पर्शी लगी, लघुकथा 'अच्छी जगह' से स्पष्ट होता है कि भाई-भतीजावाद फैला है- इसी से दिल मैला है. सभी को नौकरी कैसे मिले, सौ मंजनू हैं और एक लैला है? कहानियां, 'छोटे लोग, बड़े लोग', 'दबंग' एकदम सच्ची कहानियां प्रतीत होती हैं. ग़ज़लों व कविताओं में जादुई पांडित्य कठिन एवं सरल शब्दों से परिपूर्ण है.

जे. पी. टंडन 'अलौकिक'
२/१४१ खतराना, जि. फर्रुखाबाद (उ.प्र.)

▶▶'कथाबिंब' पत्रिका का जुला.-सित.२०११ अंक पढ़ा. अमर स्नेह की कहानी 'मां, तुम कहां हो!' भारतीय

समाज पर एक चोट है. धर्म की आड़ में अपने आपको आदर्श प्रस्तुत करने की अभिलाषा लिये धार्मिक ठेकेदार वृद्धाश्रमों की स्थापना करते हैं. नाम के स्वर्गाश्रमों में रहने वालों के कांतिहीन एवं सूखे चेहरों को देखकर सहज ही उनकी वास्तविक स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है.

'शाहीन' की ग़ज़ल 'पैसे से नींद नहीं ख़रीदी जा सकती' सत्य ही है.

के. के. शर्मा

३४१, कृष्ण नगर, रुड़की रोड, मेरठ

▸▸'कथाबिंब' जुलाई-सितंबर २०११ का अंक मिला. अंक में 'कुछ कही, कुछ अनकही', 'आमने सामने', 'सागर सीपी', 'वातायन' स्तंभ-पत्रिका को हिंदी जगत की एक उच्च स्तरीय पत्रिका बना देते हैं.

कहानी 'नवारंभ' राजेंद्र वर्मा, 'नहीं, वह गंगा ही था'- ललित निरंजन की मन को झकझोर गयीं. लघुकथाएं भी संदेश वाहक लगीं. कविता में 'अन्ना हजारे' हुमायूं जमील- 'ख़बरों की दुनिया',- डॉ. प्रभा, वास्तव में समाज और समय का दर्पण लगीं. एक स्तरीय पत्रिका में जो होना चाहिए, उससे कहीं अधिक 'कथाबिंब' के हर अंक से मिलता है.

कैलाश बिहारी श्रीवास्तव

डी-१४, शहजादे कोठी,

रायबरेली (उ.प्र)-२२९००१.

▸▸कथाबिंब का जुलाई-सितंबर २०११ अंक आद्योपांत पढ़ गया हूं. पिछले अंक में 'आमने-सामने' में डॉ. किशोर काबरा थे, इस बार मुकेश शर्मा जैसे मौसम में तापमान कम हुआ है, वैसे ही 'आमने-सामने' का ग्राफ़ हुआ है. सागर-सीपी में डॉ. कमल किशोर गोयनका इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि उन्होंने प्रेमचंद साहित्य व प्रवासी साहित्य में उल्लेखनीय योगदान दिया है. मणि मधुकर पर केंद्रित पुस्तक गोयनका के संपादन में प्रभात प्रकाशन से आनी थी, मैंने भी उनके आग्रह पर रस गंधर्व पर आलेख भेजा था. जिसकी कोई प्रति मैंने नहीं रखी, उन्हीं दिनों मणि के विवादास्पद होने की वजह से किताब रुक गयी और मेरे आलेख की ज़िम्मेदारी से कमल किशोर मुकर गये. सविता बजाज का बाइस्कोप पठनीय है पर उसमें एक पूर्णता होनी चाहिए. सुदर्शन फाकिर स्वर्गीय हो गये व सविता जी को पता ही नहीं चला. यह निर्ममता है और अक्षम्य है. जब लघुकथा तक में पूर्णता होती है तो यह तो अपेक्षाकृत ज़्यादा शब्दों का स्तंभ है. वैसे कहानियों के बारे में आपने स्वयं संपादकीय में लिख दिया है, फिर भी राजेंद्र वर्मा की 'नवारंभ' सेवा निवृत्तों के लिए सकारात्मक कथा है. राजेंद्र धैर्य व तफसील से कहानी रचते हैं, चाहे वे पारिवारिक परिस्थितियां हों या साहित्यिक रुचियां, एक समाधान दिया है सेवा निवृत्ति की उत्तर जीवन गाथा का. डॉ. इला प्रसाद की कहानी का शीर्षक भले ही 'दबंग' है, किंतु इसमें उद्दंड छात्र की दबंगई ही सिद्ध होती है, कथानायिका का घटनोपरांत स्कूल न जाना दबंगपना नहीं है. दबंग छात्र खलनायक के रूप में उभरता है. विदेशी परिवेश व कथ्य की कहानी है यह. उषा प्रियंवदा ने प्रवास में रहकर 'वापसी' लिखी है और निर्मल वर्मा की प्रवासी परिवेश की कहानियां संवेदना में भारतीय हैं. 'दबंग' उद्देश्यहीन कथा है. ललित निरंजन ने 'नहीं, वह गंगा ही था' लिखकर वही किया जो धूमिल ने 'मोचीराम' कविता लिखकर किया है. एक कथा है, एक कविता है. आम आदमी का दर्द दोनों में है. किंतु धूमिल का प्रभाव दूरगामी और बहुआयामी है. ललित, निरंजन की कथा में एकायायिता व स्थूलता है. सुमन सारस्वत की 'छोटे लोग, बड़े लोग' यही सिद्ध करती है कि घटियापन दोनों में है. पर दोनों वर्गों में गाली दर्शन दिखाकर वे क्या हासिल करना चाहती हैं. क्या वे यह कहना चाहती हैं कि बड़े लोग तथाकथित बड़े हैं, वस्तुतः बड़े नहीं, और छोटों को तो छोटा होना ही है. अमर स्नेह जो कथाबिंब के हितैषी एवं नियमित लेखक हैं, अंत मैं हैं. उनकी कहानी 'मां, तुम कहां हो! कलयुगी श्रवणकुमारों का कच्चा चिट्ठा है, नैरेटर की भलमनसाहत तो प्राथमिक उपचार की तरह है. अब मां किन-किन यातनाओं से गुज़रती है, यह वेदना की आवृत्तियां हैं, मूल बात यह है कि बेटे ने मां को अनाथ कर दिया. ग़ज़लों में डॉ. वी.पी.दुबे ने दिल को छू लिया. शेष मस्तिष्क को छूते हुए गुज़र गयीं. डॉ. प्रभा मुजुमदार की 'कविता ख़बरों की दुनिया में' सूक्ष्मता लिये हुए है. हुमायूं जमील की 'अन्ना हज़ारे' संप्रेषणीय है. मीना गुप्ता की लघुकथा 'नन्हीं चिड़िया' गद्यगीत है. डॉ. प्रद्युम्न भल्ला ने संवादों से लघुकथा का सृजन किया है. नीता श्रीवास्तव की लघुकथा टिप्पणी है. ज्ञानदेव मुकेश ने भल्ला की पगडंडी पकड़ी है.

हितेश व्यास

१- मारुति कॉलोनी, पंकज होटल के पीछे,

नयापुरा, कोटा-३२४००१.

कहानी

मैं कैसे हंसूं?

सुशांत सुप्रिय

मैं कैसे हंसूं? चौदह बरसों तक मेरा सबसे अच्छा दोस्त रहा मेरा पालतू कुत्ता 'जैकी' मर चुका है. मेरे बेटे मुझे छोड़ कर दूर चले गये हैं. जिन लोगों पर मैं भरोसा करता था, वे ही मुझे धोखा दे रहे हैं. बाल्कनी में रहने वाले जिस कबूतर को मैं रोज़ सुबह दाना देता था, उसे इलाक़े की बिल्ली मार कर खा गयी है. मेरे अकेलेपन की साक्षी मेरे कमरे में रहने वाली पूंछ-कटी छिपकली भी करेंट लगने से मर गयी है. और पिछले कई दिनों से मूसलाधार बारिश हो रही है. मेरे शहर में यमुना ख़तरे के निशान से ऊपर बह रही है. सारे शहर पर बाढ़ का ख़तरा मंडरा रहा है. डॉक्टर कहते हैं — "आप लोगों से मिला-जुला कीजिए. लोगों के घर आया-जाया कीजिए. खुल कर हंसा कीजिए. और ख़ुश रहिए." पर मैं कैसे हंसूं?

देश में जब बाढ़ नहीं आयी होती तो सूखा पड़ा होता या सुनामी या भूचाल आया होता या नगर-निगम के नलों में कई दिनों तक पीने का पानी नहीं आता या दिन में दस-दस घंटे बिजली नहीं होती या महंगाई बढ़ गयी होती- सब्ज़ियां, दालें, तेल, रसोई गैस, पेट्रोल और किरासन तेल - सब की क़ीमतें आम आदमी की पहुंच से बाहर हो गयी होतीं. कॉलेज से आने के बाद मैं देर तक अंधेरे को घूरता हुआ कमरे में अकेला पड़ा रहता. टी.वी. चलाता तो ख़बरें मुझे अवसाद से भर देतीं. तीर्थ स्थानों पर हुई भगदड़ में दब कर दर्जनों तीर्थयात्री मारे जा रहे होते या ग़रीबों की झुग्गी-झोपड़ियों और बस्तियों पर बुलडोज़र चल रहे होते या किसान क़र्ज़ तले दब कर आत्म-हत्याएं कर रहे होते या अदालत में पेशी के लिए लाये गये दुर्दांत अपराधी पुलिस हिरासत से भाग रहे होते या अहिंदी भाषी प्रदेशों में हिंदी भाषियों को मारा-पीटा जा रहा होता, उनकी हत्या हो रही होती.

कभी कहीं प्रेशर कुकर या स्टोव या गैस का सिलिंडर फट गया होता या स्कूल बस पुल तोड़ कर नदी में गिर गयी होती या चालकों के सो जाने की वजह से बीच रात में दो रेल-गाड़ियों की टक्कर हो गयी होती या कोई विमान दुर्घटनाग्रस्त हो गया होता और इन हादसों में दर्जनों या सैकड़ों लोग मारे गये होते. कहीं आरक्षण के विरोधी हिंसा पर उतारू होते, कहीं आरक्षण के समर्थक रेल की पटरियां उखाड़ रहे होते और राष्ट्रीय राजमार्गों को जाम कर रहे होते. जब यह सब नहीं हो रहा होता तो कहीं आतंकवादी बम विस्फोट कर देते या फिर कहीं दो समुदायों में दंगा-फ़साद हो जाता.

इन ख़बरों से घबरा कर मैं कभी बाल्कनी में जा कर खड़ा होता तो सामने वाले ख़ाली प्लॉट में पड़े कूड़े के ढेर पर भिखारी और कुत्ते एक साथ खाना ढूंढ़ते नज़र आते. जीवित लोगों को पूछने वाला कोई नहीं था जबकि मरे हुए लोगों के बुत बना कर चौराहों पर लगाये जा रहे थे, उनके गले में फूल-मालाएं डाली जा रही थीं. यह सब देख कर मुझे ऐसा लगता जैसे मेरे सीने पर कोई भारी पत्थर पड़ा हुआ हो.

यह इक्कीसवीं सदी का पहला दशक था जब देश के अय्याश वर्ग के पास अथाह पैसा था और वह ऐश कर रहा था जबकि मेहनतकश वर्ग भूखा मर रहा था.

मेरे पड़ोसी के. डी. सिंह एक बहु-राष्ट्रीय कंपनी में उच्च पद पर काम करते थे. उन्हें लाखों रुपए वेतन में मिलते थे. उनके यहां तीन-तीन लक्ज़री कारें थीं. उनके यहां आये दिन पार्टियां होती रहती थीं जो देर रात तक चलती थीं. उनके घर में दिन-रात शराब की नदियां बहती थीं. उनके बच्चे पानी की जगह चिल्ड बियर पी कर बड़े हो रहे थे.

दूसरी ओर इलाक़े के कपड़े इस्त्री करनेवाला था जो एक कमरे की खोली में रहता था. उसकी पत्नी हमेशा बीमार रहती थी. पौष्टिक आहार नहीं मिलने की वजह से उसके स्तनों का दूध सूख गया था और उसका नवजात शिशु बीमार पड़ कर गुज़र गया था. बहती नाक वाले उसके बाक़ी दो बच्चों को भरपेट खाना नहीं मिलता था और वे कभी स्कूल नहीं जाते थे.

मेरे दूसरे पड़ोसी संजीव प्रताप अपने घर कुछ घंटों के लिए ही आते थे. लोगों का कहना था कि वे दरअसल

अपनी पहली बीवी के साथ कहीं और रहते थे. मेरे पड़ोस के मकान में उनकी दूसरी बीवी और दूसरी बीवी से हुआ उनका एक बच्चा रहता था. हमारे कई राजनेताओं की तरह वे भी यह दोहरा जीवन शान से जी रहे थे. उस मकान का बूढ़ा मालिक कई बार प्रताप साहब को मकान ख़ाली करने का नोटिस दे चुका था पर प्रताप साहब की जान-पहचान इलाक़े के गुंडों से भी उतनी ही प्रगाढ़ थी जितनी इलाक़े के पुलिस वालों से थी. अपने 'कॉन्टैक्ट्स' की वजह से वे न तो मकान का किराया दे रहे थे न ही मकान ख़ाली कर रहे थे बल्कि मकान पर क़ब्ज़ा जमा कर उसे हड़पने की तैयारी में थे.

मैं कॉलेज में उन लड़के-लड़कियों को शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया गया था जिन्हें मेरे द्वारा दी जानेवाली शिक्षा हास्यास्पद लगती थी. वे लड़कियां और लड़के चमचमाती लंबी गाड़ियों में से निकल कर कॉलेज में महज़ समय व्यतीत करने के लिए आते थे. उनके मां-बाप उद्योगपति, व्यापारी या राजनेता थे जो कॉलेज को हर साल तगड़ा 'डोनेशन' देते थे. कॉलेज की मैनेजिंग कमेटी के कई सदस्य उनके मां-बाप की जेब में थे. वे परीक्षा में धड़ल्ले से नक़ल करते थे और उनका नाम हर साल 'मेरिट-लिस्ट' में होता था. इन लड़कों के आदर्श गांधी जी जैसे महापुरुष नहीं थे बल्कि फ़िल्मों में क़मीज़ उतार कर देह-प्रदर्शन करने वाले सलमान खान और लक्स साबुन का प्रचार करने के लिए 'पूल' में सिने-तारिकाओं से घिरे नंगे बदन वाले शाहरुख़ ख़ान सरीखे अभिनेता थे. लड़कियां फ़िल्मों में अंग-प्रदर्शन करने और 'बोल्ड' दृश्यों में दिखने वाली मल्लिका शेरावत और राखी सावंत को अपना आदर्श मानती थीं, मदर टेरेसा को नहीं.

यह वह समय था जब लोग महंगी विदेशी शराब की बोतलें 'गिफ़्ट' में दे कर अपने रुके हुए काम करवा रहे थे. लोग हर वैध-अवैध ढंग से ज़्यादा-से-ज़्यादा धन कमाने के पीछे पागल हुए जा रहे थे. समाज में धन और पद की क़द्र हो रही थी, गुण और बुद्धिमत्ता की नहीं. जो सच्ची बात कहने का साहस करते उन्हें या तो नौकरी से निकाल दिया जाता या उनके ऊपर किसी सिफ़ारिशी गधे को बिठा दिया जाता.

मैं कॉलेज में पूरी लगन और निष्ठा से अध्यापन-कार्य करता था पर मेरे काम को कभी सराहा नहीं जाता था

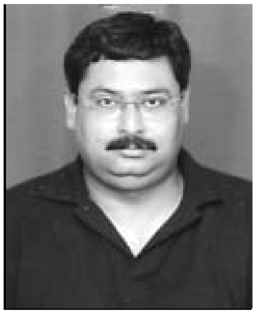

सुशान्त सुप्रिय

कथाबिंब के हितैषी एवं नियमित लेखक

बल्कि माइक्रोस्कोप ले कर उसमें काल्पनिक ग़लतियां ढूंढ़ी जातीं. कॉलेज के प्रिंसिपल महोदय चाहते थे कि कॉलेज की ड्यूटी के अलावा मैं उनके घर में काम-काज भी करूं—कभी उनके लिए अपने पैसों से बाज़ार से सब्ज़ी, फल और मिठाई वग़ैरह ख़रीद कर दे जाऊं तो कभी उनकी स्कूल जाने वाली बच्चियों की फ़ीस अपनी जेब से दे आऊं. उन्हें यह ग़लतफ़हमी भी थी कि वे एक बहुत अच्छे कवि और कहानीकार थे. वे चाहते थे कि मैं उनके महान व्यक्तित्व और कृतित्व का महिमामंडन करने वाली पुस्तक लिखूं.

प्रिंसिपल साहब अंग्रेज़ी शराब के भी शौक़ीन थे जबकि मैं शराब बिल्कुल नहीं पीता था. हर शाम उनके यहां पीने-पिलाने वाले शराबी प्राध्यापकों का जमावड़ा लगता था. मांस और मदिरा के सेवन के बीच यहां षडयंत्र रचे जाते थे, गुणी किंतु सीधे-सादे प्राध्यापकों की राह में कांटे बिछाने की साज़िश की जाती थी. चूंकि मुझे मदिरा सेवन करने वाली इस मंडली का सदस्य बनना मंजूर नहीं था, चूंकि मैं झूठी प्रशंसा करने वाली किताब नहीं लिख सकता था, चूंकि मैं अपने पैसे ख़र्च करके प्रिंसिपल साहब को 'गिफ़्ट्स' नहीं दे सकता था इसलिए मेरे सारे अन्य गुण उनकी नज़र में अवगुण थे. उनकी निगाह में मैं किसी काम का नहीं था, मैं ग़लत युग में भटक आया एक 'मिसफ़िट' था. मेरी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि मैं किसी का चमचा नहीं बन सकता था. मेरे रक्त में चापलूसी और चाटुकारिता नहीं घुली थी. कोई मेरी पीठ

ठोक कर मुझे रीढ़-हीन नहीं बना सकता था. और इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के भारत में यह सब एक बड़ी अयोग्यता थी, सफलता की राह में भारी रुकावट थी.

मेरे एक मित्र का बेटा किसलय पिछले आठ साल से दिल्ली विश्वविद्यालय के विभिन्न कॉलेजों में ऐड-हॉक पदों पर हिंदी पढ़ा रहा था. हालांकि वह हिंदी और भाषा विज्ञान में प्रथम श्रेणी में एम.ए. था और हिंदी में पीएच.डी. भी था पर उसके पास वह योग्यता नहीं थी जो कॉलेज में स्थायी पद पर नियुक्ति के लिए सबसे ज़रूरी थी — वह किसी का चमचा नहीं था, उसके पास 'कांटैक्ट्स' नहीं थे, वह उच्च पदों पर आसीन गधों के सामने 'हां, सर' 'जी, सर' करते हुए अपनी विलुप्त पूंछ नहीं हिला सकता था और न ही वह साक्षात्कार के लिए आये आचार्यों को महंगे तोहफ़े दे सकता था.

यह वह समय था जब हर जगह घाघ मठाधीश बैठे थे जो योग्य लोगों को आगे नहीं आने दे रहे थे. जो काम कर रहे थे, उन्हें सराहा नहीं जा रहा था. जो नतीजे दे रहे थे, उनकी पदोन्नति नहीं हो रही थी. धर्म और जाति के आधार पर ही व्यक्ति की योग्यता आंकी जा रही थी. हम हॉकी में तो ओलंपिक खेलों के लिए 'क्वालीफ़ाई' नहीं कर पा रहे थे, पर योग्य आदमी से जलना और उसे कुचलना हमारा 'राष्ट्रीय खेल' बन गया था. यदि यह खेल ओलंपिक्स में शामिल होता तो इसमें हम अवश्य ही स्वर्ण-पदक ले आते.

डॉक्टर कहते हैं — ''यूं उदास मत रहा कीजिए. आपको हंसना चाहिए. जब भी आप अकेलापन और अवसाद महसूस करें, घर से बाहर निकल जाइए. पार्टियों में जाइए. लोगों से मिलिए-जुलिए. मित्र बनाइए...'' पर मैं कैसे हंसूं?

कॉलेज में कभी मेरा सबसे अच्छा दोस्त रहा मेरे ही विभाग का शुक्ला विभागाध्यक्ष बनने के लोभ में मुझसे 'भितरघात' कर रहा था. वह प्रिंसिपल को, अन्य अध्यापकों को और छात्रों को मेरे विरुद्ध भड़का रहा था. उसकी हर मुसीबत में मैंने तन-मन-धन से उसका साथ दिया था पर आज अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए वही मेरा शत्रु बन बैठा था.

दुनिया में एक जीव जो मुझसे बेइंतहा प्यार करता

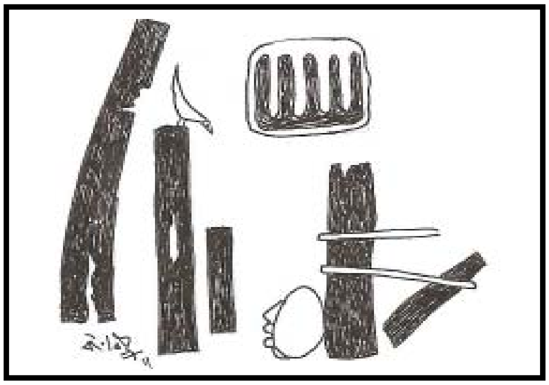

था, वह मेरा कुत्ता 'जैकी' था. उसका मेरा पिछले चौदह वर्षों का साथ था. वह मुझे ख़ुद से ज़्यादा प्यार करता था. वह मुझे बिना किसी स्वार्थ के चाहता था. उसने मुझे कभी धोखा नहीं दिया था. उसका मेरे प्रति प्यार छलावा या दिखावा नहीं था. वह मेरे लिए सगे-संबंधियों से बढ़ कर था. कुछ दिन पहले दस-पंद्रह दिनों तक बीमार रहने के बाद वह चल बसा था. उसके जाने के बाद मैं बिल्कुल अकेला रह गया था.

पत्नी कई साल पहले मुझे छोड़ गयी थी. उसके लिए विदेशी एन.जी.ओ. में उसका कैरियर और उसकी नौकरी मुझ से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण थी. उसका परिवार उसकी महत्त्वाकांक्षा की राह में रुकावट था. इसलिए उसने मुझे और बच्चों को बरसों पहले त्याग दिया था. मैंने अकेले ही दोनों बच्चों को पाला-पोसा था. पर उनके लालन-पालन में शायद मुझ से ही कोई कमी रह गयी थी. हालांकि कहने के लिए वे दोनों मेरे बेटे थे पर वे दोनों अमेरिका और आस्ट्रेलिया में जा कर बस गये थे. वे अपने-अपने बीवी-बच्चों के साथ अपनी-अपनी दुनिया में गुम हो गये थे. उनके राडार पर पिता नाम के इस शख़्स की उपस्थिति अब दर्ज़ नहीं होती थी.

जब मैं छब्बीस साल का था, मां तब घर की सीढ़ियों से गिर कर असमय ही चल बसी थीं. मैंने तब नयी-नयी नौकरी करनी शुरू ही की थी. मां जल्द-से-जल्द मेरी शादी कर देना चाहती थीं. उन्हें बहुत अरमान था कि मेरा बच्चा उनकी गोद में खेलता. लेकिन उनके अरमान अधूरे रह गये. मां के सिर में गहरी चोट लगी थी. वे चार दिनों तक अस्पताल में कोमा में पड़ी रही थीं. तब सारा दिन बारिश होती रहती थी. डॉक्टरों ने उन्हें 'वेंटिलेटर' के सहारे जीवित रखा हुआ था. मां को अभी जीना था. उन्हें बहुत कुछ देखना

था. पर ऐसा नहीं हो सका. मेरी प्रार्थना अशक्त हो गयी. वे मुझे अकेला छोड़ गयीं.

आप जिनको चाहते थे, जिनसे प्यार करते थे, वे आपसे दूर चले जाते थे या तो किसी वजह से उनकी मौत हो जाती थी या आपके और उनके बीच कोई ग़लतफ़हमी हो जाती थी जो दूर होने के बजाय बढ़ती ही जाती थी. सारे रिश्ते-नाते स्वार्थ से प्रेरित थे. आप जिनसे उम्मीद लगाते थे, उन्हीं से धोखा खाते थे. अधिकांश रिश्ते-नाते जैसे अपना काम निकाल कर आपको ठेंगा दिखा देने की हृदयहीन और अवसरवादी परियोजना का अटूट हिस्सा थे.

कॉलेज में लड़कों का छात्रावास अनुशासनहीनता और ग़ुंडा-गर्दी का गढ़ बन गया था. जब छात्रावास के 'वार्डेन' तिवारी जी लड़कों को नियंत्रित नहीं कर पाये तो उन्होंने 'वार्डेन' का पद छोड़ दिया. कोई प्राध्यापक इस कांटों के ताज को पहनने के लिए आगे नहीं आया. जब प्रिंसिपल ने मुझे यह पद सौंपने की मंशा ज़ाहिर की तो मैंने इसे स्वीकार कर लिया.

मैंने छात्रावास में अनुशासनहीनता समाप्त करने का भरसक प्रयत्न किया. पर ग़ुंडा तत्त्वों को कॉलेज के प्राध्यापकों के विभिन्न गुटों के समर्थन के साथ-साथ राजनीतिक समर्थन भी प्राप्त था. कई बाहरी तत्व भी छात्रावास में अपना दबदबा बनाये हुए थे. छात्रावास में अचानक तलाशी लेने पर वहां से तलवारें और देसी कट्टे बरामद किये गये. जब मैंने दोषी छात्रों के विरुद्ध कार्रवाई करनी चाही तो प्रिंसिपल साहब ने मुझे मामले को रफ़ा-दफ़ा करने की सलाह दी.

और ऐसे माहौल में छात्रावास में आया एक नया लड़का 'रैगिंग' का शिकार हो गया. ग़ुंडा तत्त्वों ने उसे इतना पीड़ित किया कि उसने सीलिंग फ़ैन से लटक कर आत्महत्या करने की कोशिश की. सौभाग्यवश उसे बचा लिया गया. जब मैंने दोषी लड़कों के विरुद्ध दंडात्मक कार्रवाई करनी चाही तो प्रिंसिपल ने एक बार फिर उन लड़कों की पहुंच ऊपर तक होने की बात कह कर मामले को दबा देना चाहा. इसके विरोध में मैंने छात्रावास के 'वार्डेन' के पद से इस्तीफ़ा दे दिया.

यह वह समय था जब सही काम करने वाले व्यक्ति के सामने तरह-तरह की बाधाएं उत्पन्न की जाती थीं जबकि ग़लत काम करने वालों को पूरी छूट थी. थानों में ही पुलिसवाले औरतों से बलात्कार कर रहे थे. बाहुबली और माफ़िया डॉन जेलों के भीतर से ही मोबाइल फ़ोन के ज़रिए अपना काला साम्राज्य चला रहे थे. दाग़दार चरित्र वाले नेता चुनावों में जीत कर विधायक और सांसद बनते जा रहे थे. खाने-पीने के सामान में धड़ल्ले से मिलावट की जा रही थी. काला-बाज़ारियों और भ्रष्टाचारियों की दसों उंगलियां घी में थीं.

महानगरों में गठे हुए बदन वाले युवक 'गिगोलो' का काम कर रहे थे. वे बिगड़ी रईसज़ादियों को बड़ी धन-राशि के बदले यौन-सेवा मुहैया करा रहे थे. 'वाइफ़-स्वैपिंग' की पार्टियों में कार की चाभियों की अदला-बदली कर के एक रात के लिए पत्नियों की अदला-बदली हो रही थी. पति-पत्नी बिना किसी नैतिक ऊहा-पोह के ऐसी पार्टियो में 'लाइफ़' को 'एंजोय' कर रहे थे. ऐसे मां-बाप की संतानें शराब पी कर अंधाधुंध कारें चला रही थीं और सड़क पर पैदल चलने वालों को मौत की नींद सुला रही थीं. लोग सड़क दुर्घटना में घायल पड़े व्यक्ति को मरता हुआ छोड़ कर आगे बढ़ जा रहे थे. अदालतों में रुपए के दम पर गवाह ख़रीदे जा रहे थे. धन और पद का दुरुपयोग करने वाले मदांध लोग इंसाफ़ का गला घोंट कर बाइज़्ज़त बरी होते जा रहे थे. जिनके चेहरों पर कालिख पुती हुई होनी चाहिए थी, उनके चेहरे रक्ताभ थे. जिनके हाथों में हथकड़ियां होनी चाहिए थीं, उनके हाथों में दौलत और सत्ता की कुंजियां थीं. ऐसे में लोग जंगल उजाड़ रहे थे. नदी-नाले गंदे कर रहे थे. बड़े-बड़े बांध बनाने के नाम पर सैकड़ों को विस्थापित कर रहे थे. हवा, पानी और मिट्टी को विषाक्त करते जा रहे थे. जो किसी भी दृष्टि से - न मन से, न वचन से, न कर्म से - सम्मानित नहीं थे वे अपने नाम के आगे 'ऑनरेबल' लगाये घूम रहे थे और असल में सम्माननीय लोगों की इज़्ज़त उतारने में लगे थे.

लोग काम पर जा रहे थे पर शाम को घर वापस नहीं आ रहे थे. कुछ सड़क दुर्घटनाओं में मारे जा रहे थे, कुछ की हत्याएं हो जा रही थीं. कुछ को पुलिस उठा कर ले जा रही थी और वे उसके बाद दोबारा कभी दिखाई नहीं दे रहे थे. एक दिन कॉलेज में मेरी कक्षा का मेधावी छात्र मणिपुर का इरोम सिंह ग़ायब हो गया. पता नहीं, उसे ज़मीन खा गयी या आसमां निगल गया. किसी ने बताया

कि उसे पुलिस उठा कर ले गयी थी.

पहले तो पुलिस वालों ने यह मानने से इंकार कर दिया कि उनका इस मामले से कोई लेना-देना है. बाद में दबाव बढ़ने पर पुलिस ने दावा किया कि दो दिन पहले उसने एक मकान पर छापा मार कर उत्तर-पूर्व के आतंकवादियों के एक गिरोह को नष्ट कर दिया. पुलिस ने दावा किया कि इस मुठभेड़ में इरोम सिंह नाम का एक ख़तरनाक आतंकवादी मारा गया. पुलिस ने उसके पास से चीन में बनी एक रिवॉल्वर और कुछ राष्ट्र-विरोधी साहित्य बरामद करने का भी दावा किया.

लेकिन कॉलेज के उसके मित्र और हम अध्यापक यह जानते थे कि यह सब झूठ था. इरोम सिंह को फ़र्ज़ी मुठभेड़ में मारा गया था. वह आतंकवादी हो ही नहीं सकता था. वह अंतर-विश्वविद्यालय खेलों में दिल्ली विश्वविद्यालय की हॉकी टीम का बेहतरीन सदस्य था. उसका भारत की जूनियर हॉकी टीम में शामिल होना तय माना जा रहा था. उसे भारतीय रेलवे की ओर से नौकरी की पेशकश भी की गयी थी. वह हम सबका प्यारा था. वह हमारे कॉलेज की शान था. मणिपुर से आये उसके पिता ने यह मानने से इंकार कर दिया कि उनका बेटा आतंकवादी था. ''वह ऐसा नहीं था,'' वे बोले और फूट-फूट कर रोने लगे थे. जीवन से भरपूर एक हंसता-खेलता शख़्स अचानक हमसे छिन गया था.

एक बार मैं बस से कहीं जा रहा था. लालबत्ती पर बस रुकी. मैं खिड़की वाली सीट पर बैठा था. बस के बग़ल में आगे एक थ्री-व्हीलर रुका हुआ था. अचानक एक छोटा-सा चूहा थ्री-व्हीलर में से निकल कर बीच सड़क पर आ गिरा. दिन में बारह-एक बजे का समय था. चूहा बीच सड़क पर भौंचक्का-सा पड़ा था. पीछे से और गाड़ियां भी आ रही थीं. चूहे ने सड़क पार करके बीच के फ़ुटपाथ पर जाने की कोशिश की. शायद वह पीछे से आ रही गाड़ियों की चपेट में आने से बच भी जाता. पर तभी न जाने कहां से वहां आ पहुंचे एक कौए ने झपट्टा मार कर उस चूहे को चोंच में दबाया और उड़ गया. मेरे देखते-ही-देखते एक जीवन ऐसे ही ख़त्म हो गया.

.... इरोम सिंह की याद में कॉलेज में आयोजित कार्यक्रम में मेरी तबीयत अचानक बिगड़ गयी. मेरे हाथ-पैर कांपने लगे थे और मेरे सिर में सैकड़ों रेल-गाड़ियों के पटरी पर धड़धड़ाने का शोर फैल गया था. इरोम सिंह आतंकवादी नहीं था लेकिन एक पूरा तंत्र झूठ को सच बनाने की क़वायद में लगा था. लोग तेज़ाबी बारिश से, ओज़ोन छिद्र से डरते थे जबकि मैं उपेक्षा की नज़रों से, अलगाव की टीस से डरता था. लोग कैंसर से, एड्स से, मृत्यु से डरते थे जबकि मैं उन पलों से डरता था जब मेरे जीवित होते हुए भी मेरे भीतर कहीं कुछ मर जाता था.

आजकल मुझे अजीब-से सपने आते हैं जिनमें भारत के झंडे पर सांप लिपटे हुए होते हैं, महात्मा गांधी की मूर्ति पर दीमक लगी हुई दिखाई देती हैं, चारों ओर अशोक स्तंभ ध्वस्त पड़े हुए नज़र आते हैं और पश्चिमी परिधानों में सजे राक्षस-राक्षसियां क़ब्रिस्तानों में नृत्य कर रहे होते हैं. अक्सर सपनों में मुझे चिथड़ों में लिपटा एक बीमार भिखारी नज़र आता है जिसके बदन पर कई घाव होते हैं, जो बेतहाशा खांस रहा होता है, दर्द से कराह रहा होता है. फिर देखते-ही-देखते वह बीमार भिखारी मेरे देश के नक़्शे में बदल जाता है.

अब आप ही बताइए, मैं कैसे हंसूं?

द्वारा श्री एच.बी.सिन्हा,
५१७४, श्यामलाल बिल्डिंग,
बसंत रोड, नयी दिल्ली- ११००५५
मो. ९८६८५११२८२/९८६९९५७४९९

ग़ज़ल

प्रदीप कांत

पहले था जो अब भी तो आसार वही है.
आ बैठी है क़िस्मत से सरकार वही है ।
हमने अपनी ढाल बदल ली साथ वक़्त के.
मगर अभी भी कुंद पड़ी तलवार वही है ।
पंख दुबारा तौलें तब भी होना क्या है.
नहीं घटा है अंबर का विस्तार वही है ।
ध्यान लगाकर कब तक सुनिए ये ही सब,
शख़्स नया पर घिसा पिटा आभार वही है ।
हुनर बेचने का सीखो अब नया आप भी,
मत सोचो कि अब तक भी बाज़ार वही है ।

सी-२६/५, कैट कॉलोनी
इंदौर-४५२०१३

क्या मैं अन्ना हूं ?

घनश्याम अग्रवाल

यह भी सच है

एक उलटबांसी घटी
फिर से हिंदुस्तान में,
राम का देश समा गया,
रामलीला मैदान में,
हमारे शहर से भी तीन लोग गये,
वापिस लौटे तो मैंने पूछा -
''तत्काल तो तत्काल बंद होता,
फिर बिना रिज़र्वेशन दिल्ली पहुंचे कैसे?''
वो बोला -कुछ नहीं यार बस
टीसी को पांच सौ दिये और
बर्थ हथिया ली, ला दे ताली.
दूसरा बोला - मैंने भी पांच सौ दिये,
टीसी ने पहले तो रख लिये
फिर मेरी टोपी को देखा, चहककर बोला -
''अरे वाह, तुम भी मेरी तरह समर्थक हो
बिल पास कराने जा रहे हो,
पहले क्यूं नहीं बताया,
चार सौ में ही ले चलता,
यह कह उसने सौ वापिस कर दिये
मैंने रख लिये और इस ख़ुशफ़हमी के साथ
आराम से सो गया
कि चलो, बीस प्रतिशत भ्रष्टाचार तो
एक झटके में कम हो गया.
तीसरा बोला - ''इधर बर्थ पर
दो समर्थकों को सोते देखा.
और उधर दो असमर्थकों को
वेटिंग में खड़े रोते देखा
तो लगा भ्रष्टाचार न तो किसी दिल्ली में
ना किन्हीं बिलों में रहता है
वह तो हमारे ही आसपास
हमारे दिलों में रहता है.
(मोको कहां ढूंढे रे बंदे...)
मैं यह सोचकर उतर गया
न आना है न कहीं जाना है
ना बिल-विल पास कराना है
जो सच में उसे मिटाना है
तो बस ज़रा गरदन झुकाना है.
(मुझसे बुरा न कोय....)

क्या ये सच नहीं ?

(१)

जब पेट ज़्यादा
और रोटियां कम हों तो
कोई भी रोटी न ख़रीदकर
न कमाकर खायी जाती है,
तब हर रोटी
सिर्फ़ छीनकर खायी जाती है.

(२)

बेताल के इस सवाल पर
विक्रम से लेकर अन्ना तक
सभी मौन हैं
कि जब सारा देश
भ्रष्टाचार के ख़िलाफ है
तब स्साला,
भ्रष्टाचार करता कौन है?

(३)

हमें इस बात का ग़म नहीं
कि हमारी क़ीमत
सिर्फ़ ३२ रुपये बहुत कम है,
पर भूख हमारी
और क़ीमत
वो तय करे जो
यह तक नहीं जानते कि
३२ रुपये का खाकर
जितना ख़ून बनता है
उससे दुगुना ख़ून
३२ रुपये कमाने में
लगता है.

(४)

हमें इस बात ग़म है.
सारे जग में है महंगाई
भारत में पर नज़र न आयी
दस-दस रुपये बालक मिलते
बीस में उनके पालक मिलते
चार रोटियों के बदले
मिलती छोरी एक जवान
अन्ना-बाबा दोनों देखो
''सबसे सस्ता हिंदुस्तान.''

(५)

क़सम खाकर
गवाह सच उगलता है,
मंत्री का चरित्र
रामचरित्र में ढलता है
क़सम खाकर वर्दी
फ़र्ज़ निभाती है,
और बेशर्मों को भी
क़सम खाने से
गर शर्म आती है,
तो लो हम भी क़सम खाते हैं
''न घूस लेंगे- न घूस देंगे.''

(६)

''हुक्म मेरे आक़ा?''
''मेरे घर से
ओबामा के घर तक
एक रोड बना दे.''
''काम बहुत मुश्किल है,
कोई और हुक्म आक़ा''
''२-जी स्पेक्ट्रम घोटाले में
लिप्त लोगों की
जन्म-कुंडली बना के ला.''
''आक़ा,
रोड सिंगल बनाऊं कि डबल?''

अलसी प्लॉट्स, अकोला-४४४००१

कहानी

शायद आसिफ भी यही सोच रहा हो!

डॉ. रमाकांत शर्मा

दरवाज़े की घंटी बजी तो अमान तेज़ी से उठे, उधर रजिया भी किचन से तुरंत बाहर निकल आयी.''आसिफ ही होगा,'' कहते हुए उन्होंने दरवाज़ा खोला, पर सामने कूरियर वाले को खड़ा देख उनके सारे उत्साह पर पानी फिर गया. वे कूरियर वाले को निपटाने में लग गये और रजिया वापस किचन में घुस गयी.

कूरियर से मिले लिफ़ाफ़े पर उन्होंने एक नज़र डाली, बैंक ने उनका तिमाही खाता विवरण भेजा था. उसे बिना खोले ही उन्होंने सोफ़े के पास रखी तिपाई पर पटक दिया और फिर से अख़बार पढ़ने में लग गये. थोड़ी ही देर में रजिया उन ख़ूबसूरत प्यालों में चाय ले आयी जो उन्होंने विदेश दौरे से ख़रीदे थे. उसने ट्रे सेंट्रल टेबिल पर रखी और अमान के पास ही सोफ़े पर बैठ गयी. चाय का प्याला अमान को पकड़ाते हुए उसने कहा - ''क्यों इंतज़ार कर रहे हो आसिफ मियां का, अब वे नहीं आने वाले.'' उन्होंने चाय का प्याला हाथ में लेते हुए रजिया की आंखों में सीधे देखते हुए कहा - ''तुम नहीं कर रही हो उसका इंतज़ार? दरवाज़े की घंटी बजते ही क्यों उस तरह किचन से बाहर निकल आयी थीं?'' रजिया से कुछ कहते नहीं बना, असहजता से बचने के लिए उसने चाय की चुस्कियां लेनी शुरू कर दीं.

उस घटना को एक महीने से ऊपर गुज़र चुका था. आसिफ अब नहीं आयेगा, इसका विश्वास हो चला था उन्हें, फिर भी हर आहट पर उन्हें लगता कि शायद वही हो. काश, वह आ जाये, उनके अंदर जो बेवजह का एक अपराध बोध समाया हुआ था, वह ख़त्म हो जाये और ज़िंदगी आसान हो जाये!

आसिफ उन्हें एक मुशायरे में मिला था. यही कोई पैंतालीस के आस-पास उसकी उम्र रही होगी, मंच पर वह उनके पास ही बैठा था. उसके व्यक्तित्व और कलाम दोनों से ही वे मुतास्सिर हुए थे. मुशायरा ख़त्म होने के बाद चाय लेते समय उनमें रस्मी बातें हुई थीं. उन्हें मालूम हुआ कि वह एक अच्छे ख़ानदान से था. ग़ज़लें सुनने और कहने का शौकीन था. पहली बार किसी बड़े मंच पर आया था. इससे पहले छोटी-मोटी नशिस्तों में शिरकत करता रहा था और अपना शौक पूरा करता था. उस सांवले-सलौने आदमी की शख़्सियत और बातचीत करने के नफ़ासती अंदाज से वे ख़ासे प्रभावित हुए और चलते समय उसे अपना कार्ड देते हुए उन्होंने अपने घर की दावत दे डाली थी.

अमान ने यह तय किया था कि दिल्ली के उस मशहूर कॉलेज के प्रिंसिपल के पद से रिटायर होने के बाद वह इस बड़े शहर को छोड़ देंगे और अपने पुरखों के उस शहर में जाकर रहेंगे जिसे छोड़े उन्हें बहुत लंबा अरसा हो चुका था. रिटायरमेंट के बाद उन्होंने इस शहर की धनी बस्ती में छोटा सा बंगला ख़रीदा था. वे और रजिया यहां आकर सचमुच ख़ुश थे. विदेश में रहनेवाले उनके दोनों लड़कों को इस शहर में उनका बसना कुछ ख़ास पसंद नहीं आया था, पर उन्होंने शिद्दत से इसका विरोध भी नहीं किया था क्योंकि वे तो साल में एक-दो बार ही छुट्टी लेकर अम्मी-अब्बा से मिलने आ पाते थे.

उनका लगभग एक साल तो इस शहर और आस-पास के माहौल को समझने और उसके साथ एडजस्ट करने में ही निकल गया. बाद में उन्हें बच्चों की ग़ैर-मौजूदगी खलने लगी और बहुत अकेलापन लगने लगा. इससे निपटने के लिए रजिया ने अपनी पत्रकारिता की योग्यता का फ़ायदा उठाते हुए पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखना शुरू कर दिया और अमान ने ग़ज़ल लिखने के अपने शौक को फिर से ज़िंदा कर लिया. इसी शौक के चलते उनकी जान-पहचान का एक दायरा बन गया और वे मुशायरों में भी बुलाये जाने लगे.

हां, तो ऐसे ही एक मुशायरे में आसिफ से उनकी मुलाकात हुई थी और उन्होंने उसे अपने घर आने की दावत भी दे दी थी. इस रस्मी मुलाकात को वे भूल ही चुके थे कि एक दिन आसिफ को अपने घर के दरवाज़े पर खड़ा पाया. उसने झुक कर सलाम किया तो बेसाख़्ता उनके मुंह से

१० मई १९५०, भरतपुर (राजस्थान)

एम ए (अर्थशास्त्र), एम कॉम (वित्तीय प्रबंध), एल एल बी, पीएच-डी (वाणिज्य)

लेखन : *विगत ३० वर्ष से लेखन कार्य से संबद्ध. लेख, कहानियां और कविताएं लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. बैंकिंग विषयों पर 'कार्ड बैंकिंग', 'वित्तीय समावेशन', 'बैंकिंग विविध आयाम' और 'ब्याज मुक्त बैंकिंग' (इस्लामी बैंकिंग) पुस्तकें प्रकाशित. व्यावसायिक संप्रेषण विषय पर पुस्तक इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ बैंकर्स (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ बैंकिंग एंड फाइनेंस) के पाठ्यक्रम में शामिल.*

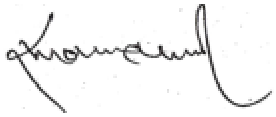

प्रकाशन : *कई कहानियां और कविताएं अखिल भारतीय स्तर पर पुरस्कृत, बैंकिंग विषयों पर मूल रूप से हिंदी में उत्कृष्ट लेखन के लिए भारत सरकार के वित्त मंत्रालय से पुरस्कृत.*

अन्य : *राजस्थान स्टेट एग्रो इंडस्ट्रीज कॉर्पोरेशन जयपुर में कार्यालय अधीक्षक और प्रशासनिक अधिकारी के रूप में लगभग ९ वर्ष तक कार्य. १९८० से भारतीय रिजर्व बैंक के राजभाषा विभाग में विभिन्न पदों पर कार्य. बैंक के शीर्ष प्रशिक्षण संस्थान 'बैंकर्स प्रशिक्षण महाविद्यालय' में लगभग १२ वर्ष तक कार्य करते हुए बैंकिंग क्षेत्र के वरिष्ठ अधिकारियों को प्रशिक्षण देने के अलावा बैंकिंग क्षेत्र की बैंकिंग विषयों पर एकमात्र प्रोफेशनल तिमाही पत्रिका 'बैंकिंग चिंतन-अनुचिंतन' के प्रवेशांक से लेकर ७ वर्ष तक संपादन-मंडल के सदस्य सचिव के रूप में कार्य.*

निकल पड़ा- ''अल्ला तुम्हें हमेशा ख़ुश रखे. आओ अंदर तशरीफ ले आओ.'' उस दिन उनमें ख़ूब बातें हुईं. रजिया को भी उसका आना अच्छा लगा था. बहुत दिन बाद उसने अमान को ठहाके लगाते देखा था, न जाने कब वह भी उनकी बातचीत में शामिल हो गयी थी.

सीधा-सादा आसिफ उन्हें बहुत अच्छा लगा था. वह भी उनकी बहुत इज़्ज़त करता और जब भी समय मिलता उनसे मिलने चला आता. उसकी जहीन और मजेदार बातों में कब समय निकल जाता, पता ही नहीं चलता था. खाने के समय अगर वह घर में होता तो वे उसे बिना खाना खाये जाने नहीं देते थे. चाय-नाश्ता तो ख़ैर चलता ही रहता था. रजिया के बनाये खाने की वह खुलकर तारीफ़ करता तो उसे अपने बड़े बेटे की याद आ जाती, वह भी उसके खाने की इसी अंदाज में तारीफ़ किया करता था.

उस दिन रजिया ने बिरयानी बनायी थी. आसिफ ने उंगलियां चाट-चाट कर खायी. रजिया ने उसे और बिरयानी देते हुए कहा था — ''आराम से खाओ, शर्माना मत और फिर आज तो बिरयानी बहुत ज़्यादा बन गयी है. तीन-चार लोग और आ जायें तो खा लें.'' आसिफ ने उठते हुए कहा था — ''ज़्यादा बन गयी हो तो परेशान मत होइए. मैं अपने साथ घर ले जाता हूं. बेगम को भी तो पता चले कि बिरयानी इतनी स्वादिष्ट भी बनायी जा सकती है.'' रजिया ने तुरंत ही एक डिब्बे में बिरयानी भर कर उसे देते हुए कहा था — ''कभी हमें भी तो अपनी बेगम से मिलवाओ.'' उसने डिब्बे को अपने झोले में डालते हुए कहा था — ''क्यों नहीं? मैं अगली बार ही उन्हें अपने साथ ले आऊंगा.''

अगली बार भी आसिफ अकेला ही आया. उसने अकेले आने के लिए माफ़ी मांगते हुए कहा था कि वह सीधे ही अपने एक दोस्त के घर से यहां चला आया था. फिर, हंस कर बोला था — ''अमीना तो ख़ुद आपसे मिलने के लिए बेकरार है. बिरयानी खाकर तो वह आपकी दीवानी हो गयी है. कह रही थी कि कुछ आपकी संगत में बैठेगी तो नये पकवान बनाना सीख लेगी.'' रजिया अपनी प्रशंसा सुनकर ख़ुश हो गयी थी और उसने कहा था — ''आप ज़ल्दी ही उन्हें यहां लेकर आइए नहीं तो हम आ जायेंगे आपके घर.'' आसिफ ने तुरंत जबाव दिया था — ''क्यों नहीं, कभी आप ज़रूर हमारे ग़रीबखाने पर

तशरीफ लाइए. हमें अच्छा लगेगा. पर, मैं अब आपको शिकायत का और मौका नहीं दूंगा. बीबी ही नहीं, बच्चों के साथ आ धमकूंगा किसी दिन.''

शायद उसकी कुछ मसरूफियत रही होगी कि वह अपने परिवार के साथ उनके घर नहीं आ पाया. कहता —''बस यहां से गुज़र रहा था तो सोचा कि आपसे मिलता चलूं.'' बात आयी-गयी हो जाती. रजिया जब भी कुछ अच्छा बनाती, आसिफ के बीबी-बच्चों के लिए भिजवा देती और उसके बदले में अपनी तारीफ़ें सुन कर संतुष्ट हो जाती.

ईद आने वाली थी. अमान और रजिया के लिए यह मौक़ा दोगुनी ख़ुशी का था क्योंकि उनके दोनों बेटे अपने परिवार सहित एक महीने की छुट्टी लेकर घर आये हुए थे. उनकी मौजूदगी ने सूने घर को गुलजार कर दिया था. इस बीच, आसिफ दो-तीन बार उनके घर आया था. उनके बेटों से वह तपाक से मिला था और विदेश के बारे में उनसे काफ़ी उत्सुकता से मालूमात हासिल करता रहा था. रजिया ने बच्चों के सामने ही कई बार आसिफ से शिकायत दोहराई थी कि वह अपने परिवार से मिलाने का वादा नहीं निभा रहा था. आख़िर, यह तय हुआ कि वह ईद के दिन अपने परिवार को उनसे मिलाने ज़रूर लायेगा.

ईद के दिन रजिया ने इस बात को ध्यान में रख कर बहुत सा खाना बनाया कि आसिफ का परिवार भी उनके घर आ रहा था, पर इंतज़ार करते-करते सुबह से शाम और फिर शाम से रात हो गयी और वे न आये. दोनों बेटे तो इस बात को लेकर काफ़ी ख़फा हो गये. छोटा बेटा तो आसिफ के घर जाने और उनके न आने की वजह जानने को तैयार हो गया था. पर, जब उसने अमान से आसिफ के घर का पता पूछा तो उसे यह जानकर बहुत अचरज हुआ कि उन्हें उसका पता भी नहीं मालूम था. बातों ही बातों में बड़े बेटे ने तो यहां तक कह दिया कि जिस आदमी के बारे में कोई जानकारी ही नहीं, उसे अपने घर में उन्होंने घुसने ही क्यों दिया? अमान और रजिया ने जब उसे समझाने की कोशिश की कि आसिफ कोई बुरा आदमी नहीं है तो उसने कहा — ''आप लोग अख़बार नहीं पढ़ते हैं क्या? रोज़ाना अख़बारों में ख़बरें आती रहती हैं कि ऐसे ही लोग घर में घुस कर घरवालों का विश्वास जीत लेते हैं और फिर वारदात करके ग़ायब हो जाते हैं. पुलिस को उनका असली नाम भी नहीं बता पाते लोग. फिर उनके शिकार भी वही बुजुर्ग होते हैं जो घरों में अकेले रहते हैं. अब यही देख लो वह इतने अर्से से घर में आ रहा है, पर आप लोग न तो उसके घर का पता ही जानते हैं और न ही कभी उसके परिवार से मिले हैं. यह तो सचमुच हद ही हो गयी.''

यह सुनकर वे खामोश हो गये थे. सच ऐसी ख़बरें तो आती ही रहती थीं. बच्चों को समझाने के लिए वे उनसे कुछ भी कह सकते थे, लेकिन ख़ुद को यह नहीं समझा पा रहे थे कि आसिफ अपने परिवार से मिलाने से क्यों कतरा रहा था.

बेटों की छुट्टियां समाप्त हो गयी थीं. जाने से पहले उन्होंने आसिफ के प्रति उन्हें फिर से सावधान किया था. पता नहीं उन्हें भी क्यों कुछ ठीक सा नहीं लग रहा था. उस दिन काफ़ी अंतराल के बाद जब आसिफ उनके घर आया तो घर में क़दम रखते ही वह सफ़ाई देने लगा कि ईद के दिन घर में एक के बाद एक मेहमानों का ऐसा तांता लगा रहा कि वे चाह कर भी घर से निकल नहीं पाये. उसने बार-बार माफ़ी मांगी तो उन्हें लगा कि वे बेकार में ही काफ़ी कुछ सोच गये थे. पर अमान के दिमाग में बेटों की कही बातें घूम रह थीं. बातों ही बातों में उन्होंने आसिफ से अपने घर का पता उनकी डायरी में लिखने के लिए कहा तो उसने जाने से पहले पता लिख देने की बात कही. लेकिन जाते समय न तो अमान को ही उससे पता लिखाने की याद रही और न ही आसिफ को.

आसिफ के चले जाने के बाद जब रजिया ने उन्हें याद दिलाया कि आसिफ के घर का पता लेना रह गया था तो वे थोड़ा संजीदा हो आये थे. क्या वह जानबूझ कर उन्हें पता नहीं दे गया था. एक अनजाना सा भय उनके भीतर उतर आया. कई दिन तक जब आसिफ नहीं आया तो उन्हें जहां बेचैनी महसूस होने लगी, वहीं इस बात की ख़ुशी भी हुई कि चलो एक ऐसे आदमी से पीछा छूटा जो न तो अपने घर का पता ही दे रहा था और न ही अपने परिवार से मिला रहा था.

☐

उस दिन डाकिया एक नयी पत्रिका दे गया था. वे पत्रिका के पन्ने पलट ही रहे थे कि उन्हें ऐसा लगा जैसे अनायास उनके हाथ रहस्य का कोई सूत्र आ गया हो. उन्होंने

तुरंत रजिया को आवाज़ लगायी तो वह किचन के नैपकिन से हाथ पौंछते हुए उनके पास आकर खड़ी हो गयी. उन्होंने रजिया के सामने पत्रिका का वह पृष्ठ मोड़ कर रख दिया जिस पर आसिफ की तस्वीर के साथ उसकी एक ग़ज़ल छपी थी और साथ में उसके घर का पता भी दिया हुआ था. रजिया ने एक गहरी नज़र उस पर डाली और पत्रिका अमान को लौटाते हुए कहा — ''कभी-कभी हम भी बच्चों की बातों में आ जाते हैं. अब आप ही बताइए कि अगर उसे अपना पता किसी को बताना ही नहीं होता तो वह उसे पत्रिका में क्यों छपाता?''

अमान को रजिया की बात में काफ़ी दम नज़र आया. उन्होंने एक बार फिरसे छपे हुए पते पर नज़र डाली और कहा — ''कहीं ऐसा तो नहीं कि हम उस पर बेकार ही शक कर रहे हों. बड़ा ही शरीफ और जहीन आदमी लगता है, तभी तो मैंने उसे बेफिक्री से घर में आने दिया. क्यों, तुम क्या कहती हो?'' रजिया ने तुरंत ही अपने सहमति जताई और कहा — ''चलो, आसिफ का पता तो मिल ही गया है, क्यों न हम उसके घर जाकर उसे सरप्राइज़ दें. देखना वह बहुत ख़ुश हो जायेगा.'' अमान को यह सुझाव पसंद आया और यह तय रहा कि वे अगले दिन ही उसके घर जायेंगे.

इतवार का दिन था. सड़कों पर रोज़ाना जैसी भीड़ नहीं थी. अमान ने तय किया कि वे अपनी कार से ही आसिफ के घर जायेंगे. कार चलाने के साथ-साथ पता ढूंढ़ने में उन्हें बहुत मुश्किल आ रही थी. काफ़ी देर तक वे पुराने शहर की गलियों की ख़ाक छानते रहे. उनकी खोज उन्हें ऐसे गली-मोहल्लों तक ले आयी जिनका उन्होंने कभी नाम भी नहीं सुना था और जिनका अपना एक अलग ही माहौल था. एक बुजुर्गवार ने जब उन्हें यह बताया कि वे पते वाली जगह को अच्छी तरह जानते हैं तो उन्होंने राहत की सांस ली. उन्होंने बुजुर्गवार को कार में ही बैठा लिया और वे उन्हें रास्ता दिखाने लगे.

छोटी-छोटी गलियों से कार बड़ी मुश्किल से निकल पा रही थी. क़रीब दो किलोमीटर का सफर बमुश्किल कटा और फिर एक छोटा सा मैदान नमूदार हुआ. मैदान में खेल रहे अधनंगे बच्चों ने अपना खेल बंदकर दिया और वे हल्ला मचाते हुए कार के पीछे भागने लगे. अमान को यह सब बड़ा अजीब लग रहा था और उन्हें आगे कोई ऐसा रास्ता भी नज़र नहीं आ रहा था जहां वे कार को तेज़ी से ले जा सकें. बुजुर्गवार ने उनकी परेशानी को भांपते हुए खिड़की से बाहर झांक कर बच्चों को जोर से घुड़का तो उन्होंने भागना बंद कर दिया. फिर उन्होंने अमान की ओर मुखातिब होते हुए कहा — ''बरखुरदार, आगे की गलियां बहुत तंग हैं आपको कार यहीं छोड़नी होगी.''

अमान ने कार रोक कर साइड में लगायी तब तक सारे बच्चे कार के पास पहुंच चुके थे और उसे छूकर देखने लगे थे. ज़्यादातर तहमद और बनियान पहने यहां-वहां खड़े, बैठे लोग भी कार और कार वालों को हैरत से देख रहे थे. कुछ घरों की खुली हुई खिड़कियों के पीछे से भी कई जोड़ी आंखें कार को ऐसे घूर रही थीं जैसे उनके मोहल्ले में कोई उड़न तश्तरी उतर आयी हो. यह सब देख कर कार वहीं छोड़ कर आगे बढ़ने की अमान की हिम्मत नहीं हो रही थी. वे बुजुर्गवार फिर मदद को तैयार दिखे और अपनी सफ़ेद लंबी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए बोले — मैं यहां सामनेवाली मस्जिद में घंटे-दो घंटे रुकूंगा. आप बेफिक्र होकर सामने वाली गली में सीधे चले जायें. गली के आख़िर में दायीं तरफ़ वाला घर आसिफ मियां का है. आप चिंता न करें, कार आपको सही-सलामत मिल जायेगी.''

उन्होंने बुजुर्गवार का शुक्रिया अदा किया और वे सामने वाली गली में घुस गये. इतनी तंग गली से वे इससे पहले कभी नहीं गुज़रे थे. वे दोनों साथ नहीं चल पा रहे थे क्योंकि शायद एक ही आदमी के गुज़रने के लिए वे गलियां ईजाद हुई थीं. जगह-जगह गंदगी के ढेरों ने उसे और तंग बना दिया था. सामने से किसी आदमी के निकल आने पर उन्हें एक तरफ़ रुक कर उसे जगह देनी पड़ रही थी. ऐसे लोग उन्हें हैरानी से देखने के बाद ही आगे बढ़ रहे थे. आगे गली और गंदी होती गयी थी. कचरे के ढेरों के अलावा नाली में बहती गंदगी ने रजिया को अपनी नाक पर रुमाल रखने के लिए विवश कर दिया.

वे बुजुर्गवार की बतायी जगह तक पहुंच गये थे. गली से गुज़रते एक आदमी से जब उन्होंने आसिफ का घर पूछा तो उसने जिस तरफ इशारा किया वहां उन्हें एक खंडहर जैसा दिखाई दिया. बेरंग और कई जगह से टूटे किवाड़ की कुंडी उन्होंने खटखटायी तो वह अजीब सी

आवाज़ करते हुए झट से खुल गया. उन्होंने देखा कि कई छेद वाली बनियान और तहमद पहने दरवाज़े के उस तरफ़ खड़े आसिफ का मुंह भी उन्हें देख कर खुला रह गया था. फिर वह अपने को संभाल कर बोला था — ''अरे आप, यहां अचानक? आइए, आ जाइए,''

ईंटें रखकर बनायी गयी उन दो सीढ़ियों पर चढ़ कर अंदर पहुंचने में उन्हें काफ़ी मशक्कत करनी पड़ी. जब तक वे अंदर पहुंचे, आसिफ ने खूंटी से कुर्ता उतार कर पहन लिया था और उस छोटी सी अंधेरी कोठरी में एक ओर बिछे तख़्त को हाथ से साफ़ करते हुए उनसे बैठने का इसरार किया था. तख़्त पर बैठते हुए उन्होंने इधर-उधर नज़र दौड़ाई. सामने ही एक तीन टांग की कुर्सी रखी थी जिसकी चौथी टांग उसके नीचे ईंट-पत्थर लगा कर खड़ी की गयी थी. बायीं ओर कोठरी के बीचोंबीच एक दरवाज़ा था जिस पर फटे टाट का पर्दा लटक रहा था. दीवारों पर यहां-वहां से उखड़ा पलस्तर उस घर में रहने वालों की हालत बयां कर रहा था.

तभी टाट का पर्दा हटा और एक बच्चे को गोद में उठाये एक औरत बाहर निकली. हल्के हरे रंग की सलवार-कमीज़ में लगे पैबंद साफ़ नज़र आ रहे थे. सिर पर ढकी चुन्नी में भी एक बड़ा सा छेद दिख रहा था. उसका पल्लू पकड़े तीन और बच्चे पीछे-पीछे चल रहे थे जिनकी हालत मैदान में खेल रहे उन बच्चों से काफ़ी मिलती-जुलती थी. अमान और रजिया को देख कर उसने प्रश्नवाचक नज़रों से आसिफ की ओर देखा तो आसिफ ने कहा — ''ये बिरयानी वाली रजिया बेगम हैं और ये हैं उनके शौहर अमान साहब.'' रजिया को अपना यह परिचय अजीब सा लगा था. उधर आसिफ कह रहा था — ''और ये अमीना हैं, मेरी शरीके-हयात.'' अमीना ने तुरंत उन्हें आदाब कहा और बच्चों के साथ वहीं ज़मीन पर बैठ गयी.

थोड़ी देर तक एक अजीब सी चुप्पी छायी रही. अमान ने चुप्पी तोड़ते हुए कहा — ''आसिफ आप काफ़ी समय से घर नहीं आये थे और फिर ईद पर भी आपका आना नहीं हुआ तो हमें थोड़ी फिक्र होने लगी थी, इसलिए हम ख़ुद ही यहां चले आये.'' वे ऐसे बोल रहे थे जैसे उनसे बहुत बड़ा गुनाह हो गया हो.

आसिफ नज़रें झुकाये उस तीन टांग की कुर्सी पर

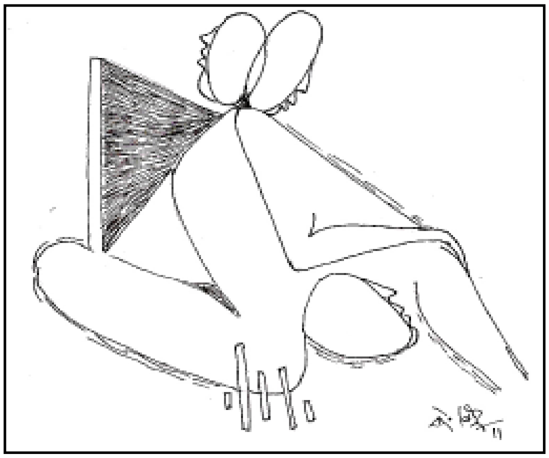

बैठा हुआ था. उसी स्थिति में उसने कहा — ''ठीक किया अमान साहब, आख़िर कब तक यह सब छुपता. क़रीब दस साल पहले वह मिल अचानक बंद हो गयी जिसमें मैं काम करता था. मजदूर यूनियनों और मालिकों के बीच बिगड़े संबंधों ने हमें कहीं का नहीं रखा. कितने ही कोर्ट केसों के बावजूद हमें मालिक से एक पैसा भी नहीं मिला. आये दिन की हड़तालों और यूनियनों के लीडरों के व्यवहार के कारण हमारी मिल के सभी कर्मचारी इतने बदनाम हो चुके थे कि कोई भी दूसरी मिल हमें काम पर रखने को तैयार नहीं हुई. कई लोगों ने तो घबरा कर आत्महत्या कर ली. मैंने मजदूरी और कुलीगिरी करके काफ़ी समय तक घर चलाया. पर इतनी मेहनत का आदी न होने से शरीर टूटने लगा और कई बीमारियों ने तोड़ कर रख दिया. मजबूरी में उसे छोड़ना पड़ा. अब कभी कोई काम मिल जाता है तो कर लेता हूं. शायरी के शौक ने ज़िंदा रखा है और घर का काम चलाने में भी कुछ मदद मिल जाती है. आप जैसे अच्छे और बड़े लोगों की सोहबत में बैठने का मौक़ा भी मिल जाता है. यही बहुत बड़ी बात है मेरे लिए.'' आसिफ का गला रुंध गया था और कुर्ते की बांह से उसने अपनी आंखें पोंछ ली थीं.

अमान और रजिया से कुछ कहते नहीं बन रहा था. उन्हें लग रहा था जैसे वे सरेआम किसी के कपड़े उतारने और उसे बेइज़्ज़त करने का कारण बन बैठे हों. उनकी भी नज़रें ऊपर नहीं उठ पा रही थीं. उन्हें लग रहा था कि वे जितनी ज़ल्दी हो सके, वहां से निकल जायें.

थोड़ी देर बाद वे जब जाने को उठने लगे तो उन्हें रोकते हुए आसिफ ने अमीना से कहा — ''ये लोग पहली

बार हमारे घर तशरीफ लाये हैं, चाय-पानी कुछ भी नहीं कराओगी क्या?'' अमीना ने गोद का बच्चा उसे पकड़ा दिया और वह अंदर जाने के बजाय बाहर निकल गयी. पांच मिनट बाद जब वह लौटी तो उसके एक हाथ में दूध का कटोरा था और दूसरे में अख़बार के काग़ज़ में बंधी शक्कर की पुड़िया थी. इसका आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता था कि वह अपने पड़ोसी के यहां से आ रही थी.

टूटे कपों में चाय पीते अमान के हाथ कांप रहे थे. उन्होंने अपने जीवन में ऐसी गुरबत कभी नहीं देखी थी. सभी चुप थे, लगातार बोलनेवाला आसिफ भी.

चलते समय अमान ने बच्चों के हाथ में पांच सौ रुपये का नोट देना चाहा तो आसिफ ने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा — ''अमान साहब, यूं तरस मत खाइए हम पर. मेहरबानी करके मेरी शर्मिंदगी को और ऊंचाइयां न बख़्शें, मुझसे सहन नहीं होगा.'' अमान ने उसके कंधे पर हाथ रखते हुए कहा — ''ऐसा क्यों सोचते हैं आसिफ. यह तो बच्चों के लिए वह ईदी है जो उनका इंतज़ार करते-करते कब से जेब में पड़ी है. अगर तुम सब ईद के दिन आते तो बच्चों को यह मिलनी ही थी.'' इस बीच छोटे बच्चे ने हाथ बढ़ाकर वह नोट ले लिया था.

आसिफ कार तक उन्हें छोड़ने आया. कार स्टार्ट करते हुए अमान ने कहा था — ''खुदा हाफिज, घर आना आसिफ.'' उसने सिर्फ़ सिर हिला दिया था. तभी वे बुजुर्गवार वहां आ पहुंचे और उन्होंने हंसते हुए कहा था — ''मैंने कार पर बराबर नज़र रखी है. कोई बच्चा हाथ तक नहीं लगा पाया इसे.'' फिर आसिफ की ओर देखते हुए बोले — ''आसिफ मियां, ये लोग आपका घर ढूंढ़ते फिर रहे थे, मैं इन्हें नहीं मिलता तो आपके मेहमान आपसे बिना मिले ही वापस चले जाते.'' आसिफ कुछ नहीं बोला था. अमान ने ही उनका शुक्रिया अदा किया और फिर कार आगे बढ़ा दी.

तबसे वे आसिफ का इंतज़ार कर रहे हैं. पता नहीं आसिफ कभी आयेगा या नहीं. पर, अगर वह आया तो उससे नज़रें मिलाने के लिए वे कैसे अपने आपको तैयार कर पायेंगे. क्या पता शायद, आसिफ भी यही सोच रहा हो!

४०२, श्रीरामनिवास,
टट्टा निवासी को. हॉ. सो.,
पेस्टम सागर रोड नं. ३,
चेंबूर, मुंबई-४०००८९
मो.-९८३३४४३२७४

ग़ज़लें

डॉ. नसीम अख़्तर

लेके चल बादे सबा फूलों सी दुनिया है जहां ,
दामने कोह में बहता हुआ झरना है जहां ।

ऐसी दुनिया से सरोकार नहीं कुछ भी हमें ,
हर बशर के लिए हथियार खिलौना है जहां ।

हम को बस ख़ाके-वतन प्यारी है, मां प्यारी है ,
हम कहां जाते हैं, मख़मल का बिछौना है जहां ।

जिस तरफ़ देखूं अंधेरा ही नज़र आता है ,
कोई बतलाये ज़रा आज उजाला है जहां ।

आप बतलाइए इंसा का ठिकाना, मिल लें ,
हम तो हरगिज़ नहीं जायेंगे फ़रिश्ता है जहां ।

अब तो मसमूम फ़ज़ाओं में नहीं दिल लगता ,
अब तो जाना है वहां, प्यार की दुनिया है जहां ।

मैं उसी शहरे-मुक़द्दस का हूं रौशन 'अख़्तर',
वही काशी, वही वारानसी, गंगा है जहां ।

x x x

वही ज़ुल्मो-सितम, जौरो-जफ़ा ख़ूंख़्वार की फ़ितरत ,
सरों को काटती रहती है बस तलवार की फ़ितरत ।

मेरे भाई उठाओ मत कोई दीवार आंगन में ,
दिलों को बांट देगी एक दिन दीवार की फ़ितरत ।

परीशा कर दिया नज़्मे-चमन को ख़ुद ही माली ने ,
डुबोती तो नहीं कश्ती, कभी पतवार की फ़ितरत ।

वही क़ातिल, वही मक़तल, वही है हाथ में ख़ंजर ,
वही स्टेज माज़ी-सा, वही किरदार की फ़ितरत ।

लिबासे आदमी में अब भी आदम ख़ोर फिरता है ,
न बदली है, न बदलेगी कभी अय्यार की फ़ितरत ।

ख़रीदा अब भी जाता है, सरे-बाज़ार यूसुफ़ को ,
ख़ुदा वंदा! नहीं बदलेगी क्या ज़रदर की फ़ितरत ।

जे-४/५९, 'गुलशने-अबरार',
हंस तले, वाराणसी-२२१००१

कहानी

टुकड़े-टुकड़े काग़ज़

डॉ. भाग्यश्री गिरी

आज एक जगह इंटरव्यू देने जाना है. इंटरव्यू की शुरुआत ही होगी —'अपना परिचय दीजिए.' क्या मैं सच में अपना परिचय दे पाऊंगी! यह सोच कर मन में विचारों का तूफ़ान सा मचल उठा. मन भूतकाल की उन यादों के आवर्त में बड़े ज़ोर के साथ घूमने लगा. यह ज़ख़्मी, बदनसीब मन कहां से कहां पहुंच गया. इन बड़े लोगों को कौन समझाए कि 'ग़रीबों का कोई परिचय या उनकी पहचान नहीं होती है.' ज़िंदगी की राह चलते-चलते, जीवन के हर मोड़ पर ठोकरें खाते हुए हम अपनी ज़िंदगी संवारने का ज़रूर प्रयत्न करते हैं. लेकिन ज़ख़्मी दिल बार-बार उन दर्दभरी यादों को सीने से लगाये ही रहता है. किसी ने कहा है कि, जैसे-जैसे समय बीतता है, वैसे वैसे मनुष्य दुखद यादों को भूल जाता है. लेकिन उनकी यह सोच बिल्कुल ग़लत है. मेरा स्वयं का अनुभव है कि जब भी मन को थोड़ा सा अवकाश मिलता है, वह उतनी ही ज़ोर की दौड़ लगाकर उन यादों के जगत में जा पहुंचता है. बीते हुए वे भूले-बिसरे से लगनेवाले पल फिर से ताज़गी का हमें एहसास दिलाते हैं.

आज मैं जीवन के इस मुक़ाम पर पहुंची हूं कि एक मल्टीनेशनल कंपनी में इंटरव्यू के लिए जा रही हूं तो यह ज़रूरी है कि विगत को याद करूं. बचपन में पढ़ाई का धागा अगर दोबारा हाथ में नहीं आता तो मैं विज्ञान स्नातक नहीं बन पाती. एक बार जो सिलसिला निकल पड़ा तो मैंने पीछे मुड़ कर नहीं देखा. रास्ते अपने आप बनते चले गये.

बरसों पुरानी बात है यह. बचपन से ही मुझे स्कूल जाने का बड़ा शौक़ था. तब मैं बहुत छोटी थी. अभी स्कूल में दाख़िल कराने लायक़ मेरी उम्र नहीं थी. पड़ोस की सहेलियां, दोस्त स्कूल जाने लगते, तो मैं ज़ोर-ज़ोर से रोना शुरू कर देती थी. 'मुझे भी स्कूल जाना है' की रट लगाये रहती थी. आख़िर एक दिन वह भी आ गया. मुझे स्कूल में दाख़िल करा दिया गया. प्रायमरी स्कूल! बचपन के वे सुनहरे दिन! कब और कैसे बीते ये इतने सारे दिन, पता ही नहीं चला. सातवीं कक्षा अच्छे नंबरों से पास हो गयी. मैं बहुत ख़ुश थी उन दिनों. इस स्कूल में सातवीं कक्षा तक ही पढ़ाया जाता था.

मई महीने की छुट्टियां ख़त्म होते ही मेरी सारी सहेलियां हाईस्कूल में आठवीं कक्षा में दाख़िल हो गयीं और मैं? हाय रे नसीब! यहीं से मेरे दुख के दिन शुरू हो गये. मेरे घरवालों ने जैसे गांव में विशेष अवसर पर मुनादी दी जाती है, उसी प्रकार सारे घर में ऐलान करा दिया कि, 'अब मेरी पढ़ाई बंद!' यह सुनते ही मैं फूट-फूट कर रोयी. मैं बहुत-बहुत रोयी. शायद आप कल्पना नहीं कर पायेंगे कि मैं कितना रोयी.

मैंने भूख-हड़ताल भी की. मैंने मां से, भाइयों से स्कूल भेजने के लिए गिड़गिड़ाकर विनती की. अब मेरा हर दिन रोते-रोते ही गुज़र जाता था. लेकिन किसी ने मेरी ओर ध्यान देना भी मुनासिब नहीं समझा. मेरी एक प्रिय सहेली थी लता. जब उसे पता चला कि मेरी पढ़ाई बंद कर दी गयी है, तो वह दौड़ी-दौड़ी मेरे पास चली आयी. हम दोनों गले मिलकर बहुत रोयीं. उसने भी भैया से मुझे स्कूल भेजने के लिए बार-बार विनती की. उसकी देखा-देखी अन्य आठ-दस सहेलियां भी मुझे स्कूल ले चलने के लिए आ पहुंची. लेकिन मेरे घरवाले टस से मस नहीं हुए. लता हर रोज़ स्कूल के लिए अपने घर से निकलती तो थी, लेकिन स्कूल जाने के बजाय वह पहुंचती थी हमारे घर. हम दोनों मिलकर दिन भर रोती रहती थीं. हम इतनी छोटी थीं, कि इसके सिवा और कोई उपाय हमें सूझता ही नहीं था. इसी तरह लगभग दो महीने बीत गये. इस दुख में इतना ही सुख था कि मेरी प्रिय सहेली पूरा दिन मेरे साथ थी. हम दोनों को इस बात की चिंता नहीं थी, कि उसकी पढ़ाई का नुक़सान हो रहा है. हम अपनी ही दुनिया में खोये हुए थे.

एक दिन चमत्कार हो गया. वह दिन मेरी ज़िंदगी का सबसे ख़ुशनसीब दिन था. पता नहीं मेरे पूर्व जन्म का कौन सा पुण्य मेरी मदद के लिए दौड़ पड़ा. हाईस्कूल के पीटी टीचर घाटगे सर हमारे घर पधारे. वे हमारा पता ढूंढ़ते-

एम. ए., एम. एड्. पीएच. डी

लेखन : *मराठी और हिंदी में कहानी, कविता और शैक्षणिक तथा सामाजिक लेख.*

प्रकाशन : *स्थानीय अख़बारों में और पत्रिकाओं में कहानियां और लेख प्रकाशित.*

सम्मान : *भारत सरकार द्वारा भारतीय जनगणना का उत्कृष्ट कार्य करने के उपलक्ष्य में राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित.*

संप्रति : *विश्वविद्यालय के एम. एड. विभाग में प्रोफ़ेसर पद पर कार्यरत. मातृभाषा मराठी.*

भाग्यश्री गिरी

ढूंढ़ते हमारे घर पहुंचे थे. घर में प्रवेश करते ही मेरी मां से उनकी भेंट हुई.

उन्होंने आते ही पूछा,''वह छोटी सी, गुड़िया जैसी लड़की कहां है? शायद वह आपकी बेटी है?''

मां ने उत्तर दिया, ''हां! वह मेरी ही बेटी है. आप उसे कैसे जानते हैं?'' इस पर सर जी बोले, ''अरे! मैं तो क्या स्कूल के सारे छात्र-छात्राएं उसे जानते हैं. गत वर्ष स्कूल में खेल प्रतियोगिताओं का आयोजन हुआ था. उस बार पूरे मैदान में उसी के नाम की तो गूंज थी. मैदान में ऐसा एक भी खेल नहीं था, जिसमें वह शामिल न हो. सबसे ज़्यादा पुरस्कारों पर तो उसका ही नाम था. सचमुच! बहुत ही होनहार लड़की है वह. ... लेकिन इस वक़्त वह है कहां? हमारे गांव में दो ही तो हाईस्कूल हैं. मैं जहां पढ़ाता हूं उस हाईस्कूल में तो उसका नाम दर्ज नहीं हुआ है. किसी काम से मैं दूसरे हाईस्कूल गया था. वहां उसके बारे में मैंने पूछताछ की. वह वहां भी नहीं है. तब जाकर मैंने उसकी सहेलियों से पूछा. सब कुछ जानकर सीधे आपके पास पहुंचा हूं. आपने उसकी पढ़ाई क्यों रोक दी?''

मां ने कहा, ''हम ग़रीब हैं. ख़र्चा कहां से उठायेंगे?''

मैं पासवाले कमरे में ही थी. अपना ज़िक्र आते ही मेरे कान सजग हो गये. छिपकर इस तरह किसी की बातें नहीं सुननी चाहिए, यह तो मैं जानती थी. लेकिन यहां तो मेरे बारे में ही बातचीत हो रही थी.

अपनी बात जारी रखते हुए मां बोली, ''वैसे तो वह बहुत छोटी है. वह हम सबकी लाडली भी है. उसे ज़्यादा पढ़ा-लिखाकर क्या करेंगे? उसके लायक़ हमारी जाति में उससे ज़्यादा पढ़ा-लिखा वर मिलना मुश्किल होगा. इसी कारण उसके भाई भी उसे और आगे बहुत ज़्यादा पढ़ाने के पक्ष में नहीं हैं. उसके बारे में कोई भी मुसीबत मोल लेना हम नहीं चाहते हैं.''

सर जी ने कहा, ''अभी तो वह बहुत छोटी है. मैट्रिक तक उसे पढ़ने दीजिए. उसके बाद ब्याह के बारे में देखा जायेगा. फिलहाल तो आप उसे स्कूल में दाख़िल करा दीजिए. आपको उसके लिए कुछ ख़र्चा नहीं करना है. हम सब उसकी मदद करेंगे. इसके लिए आपको चिंता करने की कोई ज़रूरत नहीं है.''

इतने में मेरे भाई भी घर आ गये. सर जी ने उनसे भी बातें की. उसी दिन वे मुझे अपने साथ स्कूल ले गये.

लगभग दो-तीन महीने बाद मेरी पढ़ाई फिर से शुरू हो गयी. मैं ख़ुशी से झूम उठी. सबसे ज़्यादा ख़ुशी तो मेरी सहेली लता को हुई. मारे ख़ुशी के वह मेरा हाथ थामकर नाचने लगी. ख़ुशी से दमकता हुआ उसका चेहरा इतने बरसों बाद आज भी मुझे याद है. सच्चे अर्थ में उसने दोस्ती निभायी थी. ईश्वर ने उसकी दोस्ती को कामयाबी दे दी थी.

स्कूल पहुंचते ही सर जी मुझे आठवीं क्लास में ले गये. सभी छात्रों से मेरा परिचय करवा दिया. उन्होंने उसी दिन मुझे कई किताबें और एक नोटबुक दी. आमतौर पर मैं घर में स्लेट पर ही पढ़ाई करती थी, फिर वह गणित विषय हो या प्रश्न उत्तर. मैं सभी प्रकार की पढ़ाई के लिए स्लेट का ही इस्तेमाल करती थी, जिससे बहुत दिन तक नोटबुक के पन्ने क्लास में लिखने के काम आ जायें. और भी एक तरकीब मैंने और लता ने ढूंढ़ निकाली थी. नोटबुक ज़ल्दी ख़त्म न हो, इसलिए हमने सभी सहेलियों

कविता

ख़ौफ़

दीपक खेतरपाल

कांप रहा है आदमी
सूखे पत्ते की तरह
निकलता है घर से
रखता है क़दम
फूंक-फूंक कर
रहता है चौकन्ना
बाज़ार में,
बस ट्रेन के सफर में,
प्लेन में,
खुले आसमान के नीचे
जी रहा है
ख़ौफ़ के साये में
कभी इसकी,
कभी उसकी,
असमय मौत पर
पी रहा है
खून के कड़वे घूंट,
नहीं मालूम उसे
कब उसका नाम
हो सकता है शामिल
हादसे में,
मरने वालों की सूची में,
आदमी चाहे
रह रहा हो
विश्व की किसी भी
सुरक्षित जगह में
भय उसकी धरोहर है
और रखना पड़ेगा
उसे इसे संभाल कर
ताकि दे सके इसे
विरासत में
आने वाली पीढ़ी को.

४३६, सेक्टर-६१, चंडीगढ़-१६००६२

से कह रखा था, कि कभी किसी कारणवश थोड़ा सा लिखकर नोटबुक का पन्ना फाड़ दिया हो तो उसे इधर-उधर कहीं फेंक न दें. वे पन्ने मुझे दे दे. उनसे वे पन्ने लेकर मैं अपनी पढ़ाई करती थी. मेरी सहेलियां भी बड़ी ख़ुशी से काग़ज़ मुझे दे देती थीं. उन्होंने कभी भी मुझे मेरी ग़रीबी का एहसास नहीं दिलाया. यही सिलसिला दो-तीन वर्षो तक चलता रहा. घर पर मैं किसी से भी पैसे नहीं मांग सकती थी. उन्होंने मुझे हाईस्कूल में पढ़ने की इजाज़त दी, यही मेरे लिए बहुत बड़ी बात थी.

इन सभी की सहायता से मैट्रिक की परीक्षा फ़र्स्ट क्लास में उत्तीर्ण हो गयी. उनके दिये हुए काग़ज़ के टुकड़ों ने ही मुझे इतनी दूर इस मंज़िल तक पहुंचा दिया था. भला, मैं कैसे भूल सकती थी वे टुकड़े-टुकड़े काग़ज़?

हम सभी सहेलियां रिज़ल्ट लेने हाईस्कूल गयीं. मैंने उन सभी सहेलियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की. जैसे ही मेरे हाथ में मार्कशीट आयी, आंखों से आंसुओं की झड़ी सी लगी. उन आंसुओं में मेरे हाथ की मार्कशीट भीगती गयी, भीगती ही गयी. कितना अनोखा था, वह दिन! उस दिन पर सिर्फ़, हांऽ हांऽ, सिर्फ़ धुंआधार बारिश की तरह आंखों से उमड़ती हुई उन आंसुओं की धाराओं का ही तो अधिकार था.

पाटे संस्कृति, बी-१०२,
तुलसीबागवाले कॉलनी,
सहकारनगर नं२, पुणे-४११००९.
मो. ९४२२०३२०७९

ग़ज़लें

अनिल पठानकोटी

कमाल मेरी दुआ ने भी क्या दिखाया है,
ज़मीन मांगी थी समतल पहाड़ पाया है ।
अकेलापन तो मेरे साथ रहता आया है,
खिजां ने मुझको हमेशा गले लगाया है ।
हर एक बार मां तेरी दुआओं का दरिया,
अलम की आग से मुझको निकाल लाया है ।
कठिन है रस्ता बगावत का जानते हैं हम,
समझ के सोच के हमने क़दम उठाया है ।
समाधियों पे बुजुर्गों की इक दिया तुमने,
कभी बता ऐ नयी नस्ल क्या जलाया है ।
खलूस बांटते रहते हैं हर जगह शायर,
खुदा ने इनको इसी के लिए बनाया है ।
न जश्न मैंने किया अपने जन्म वाले दिन,
बस एक पेड़ को मैंने ''अनिल'' लगाया है ।

गार्डन कॉलोनी, समीप रेणुका मंदिर,
मिशन रोड, पठानकोट-१४५००१

अंकित 'सफ़र'

कभी झूठा समझता है, कभी सच्चा समझता है ।
ये उसके मन पे छोड़ा है जो वो अच्छा समझता है ।
मैं पंछी हूं मुहब्बत का फ़क़त रिश्तों का प्यासा हूं,
न सागर ही मुझे न ही सहरा समझता है ।
जो जैसे बात को समझे उसे वैसे ही समझाओ,
शराफ़त का यहां पर कौन अब लहजा समझता है ।
मुसाफ़िर हैं नये सारे सफ़र में ज़िंदगानी के,
यहां कोई नहीं ऐसा जो ये रस्ता समझता है ।
उसी कानून के फिर पास क्यों आते हैं सब जिसको,
कोई अंधा समझता है, कोई गूंगा समझता है ।

२०१-बी, विंग,
स्वामी समर्थ कॉम्प्लेक्स, सेक्टर-९,
एरोली, नवी मुंबई-४००७०८

लघुकथा

बेताल फिर डाल पर....

विक्रम के कंधे पर सवार बेताल ने कहा — ले भाई विक्रम, मूंगफल्ली खाकर टाइम-पास कर ले. आज इंटरनेट के युग में भी कथाकारों ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा है और तुम्हें मुझे ढोना पड़ रहा है. भई, मेरी कहानियों का स्टॉक तो ख़त्म हो गया है, फिर भी मैं तुम्हें एक घटना सुनाता हूं, और उससे संबंधित प्रश्न पूछता हूं. यदि तुमने उत्तर बताया तो भी ठीक, और नहीं बताया तो भी ठीक. मुझे तो वापस जाकर उसी डाल पर लटकना है. तो सुन — आर्यवर्त नामक देश के राजा ने अपनी लड़की के विवाह के लिए समाचारपत्रों में विज्ञापन प्रकाशित कराया. विक्रम (बेताल की बात बीच में ही काटकर) — लेकिन मैंने तो सुना है कि आर्यवर्त में तो जनता का ही राज है. लोकतंत्र की बयार बह रही है. ऐसे में वहां राजा कहां से आ टपका?

बेताल — तुमने अपना मुंह क्यों खोला राजन? ख़ैर यह पहली ग़लती है, इसलिए माफ़ कर देता हूं. सुनो आर्यवर्त में जो लोकतंत्र के ठेकेदार बने बैठे हैं, वही तो वहां पर राजा हैं. ख़ैर तो विज्ञापन के प्रत्युत्तर में तीन लड़कों के पत्र आये. पहले लड़के ने ई-मेल भेजा और साथ ही अपनी संपन्नता का बखान भी किया. दूसरे लड़के ने साहित्यिक अंदाज़ में एक पोस्टकार्ड भिजवाया और स्वयं को सरस्वती का पुत्र होने का दावा किया, जबकि तीसरे ने दो वक़्त की रोटी और चार साड़ियों के साथ लड़की को सुखी रखने वाला डायलॉग लिख मारा.

— राजन, अब तुम यह बताओ कि वह लड़की किससे शादी करेगी?

विक्रम — वर्तमान भौतिकवादी युग में निश्चित रूप से वह लड़की पहले लड़के को ही चुनेगी.

— बिलकुल ठीक! तू बोला और मैं चला, कहकर बेताल ने फिर उसी डाल पर लटककर अपनी औपचारिकता पूरी की.

२१४-८३२, सेक्टर-०२, हाउसिंग बोर्ड कॉलेनी, साडू, रायपुर-४९२००७.

कहानी

कंबलदान

प्रशांत कुमार सिन्हा

बाढ़ के कहर से लोग उबर भी नहीं पाये थे कि ठंड के प्रकोप ने आ घेरा. शीत लहर की कंपा देने वाली चुभन. सीलन भरा कमरा, भीखन की आंखों से नींद कोसों दूर. रात काटे नहीं कट रही. एक तो हड्डियों को छेदती ठंडी हवा, दूसरा भोर होने का इंतज़ार. आज रात कितनी लंबी हो चली है.... रह-रहकर पेशाब लगना, भीखन टाटी को खिसका कर बाहर आ जाता है. तारे नहीं दिखते. आकाश कुहासे से आच्छादित है. समय का पता नहीं चलता. सुबह सात बजे तक रिक्शा लेकर उसे शहर के गांधी मैदान पहुंचना है. नेताजी ने रिक्शावालों को मुफ़्त में कंबल बांटने की घोषणा कर रखी है. शहर उसके क़स्बे से दस किलोमीटर दूर. पांच बजे तक हर हाल में क़स्बा छोड़ देना है. कुहासों भरा मौसम. पांच डग आगे की चीज़ नहीं दिखती. रिक्शा तो रिक्शा है, कार नहीं कि हेडलाइट जलाकर आगे से आने वाली सवारियों को आगाह कर सके. शरीर भी पहले जैसा नहीं रहा. पचास-पचपन में भीखन के पिता जी हट्टे-कट्टे थे. तेज़ी से रिक्शा हांक लेते थे. लेकिन भीखन इस उम्र में बूढ़ा हो चला है.

लघुशंका से निवृत्त हो वह अपनी झोपड़ी में प्रवेश करता है. अंदाज लगाता है, अभी आधी रात शेष है. चार बजे के आसपास सियार हुआ-हुआ करने लगते हैं, उसी समय बिस्तर छोड़ देगा. एक घंटे में दिशा-मैदान से फारिग होकर शहर की ओर चल देगा.

भीखन पुन: चिथड़ों में आ दुबकता है जहां उसके तीन पोते-पोतियां हाथ–पांव सिकोड़ छाती में सिर छुपाये सोये हुए हैं. कैसी त्रासदी है बच्चों के तन ढापने के कपड़े नहीं. बिछाने को पुआल नहीं, बाढ़ में खेत के खेत वह गये. पुआल आये तो कहां से! ओढ़ने के नाम पर बस यही एक मात्र गेंदरा बचा है. पत्नी को ठंड सहने की अदभुत क्षमता दे रखी है ईश्वर ने. फटे-चिटे चादरों और चिथड़ों को साट-सिलकर सास-बहू एक साथ काम चला लेती हैं. गेंदरा में भीखन एवं उसके तीन पोते-पोतियां.

झोपड़ी में आकर ढिबरी जलाने को माचिस की तीली सटाना है. ढिबरी सूखी पड़ी है जलती नहीं. भीखन की गतिविधियों को भांप चिथड़े में लिपटी उसकी पत्नी पूछती है, ''क्या हुआ, सोते क्यों नहीं?''

''कितना सोयें. रात भी तो लंबी है'', भीखन जवाब देता है.

''सो जाओ अभी आधी रात बाकी है.''

''पता चले तब तो, बाहर तो कुहासा छाया हुआ है.''

भीखन सोना नहीं चाहता. उसकी इच्छा होती है पत्नी को जगा ले. लेकिन कुछ कहता नहीं. क्यों अपनी बेचैनी में भागीदार बनाये. फिर उठने-बैठने से बहू की नींद उचट जायेगी.

भीखन गेंदरा की एक छोर उठाकर उसमें घुसने का प्रयास करता है कि ठंड की चुभन से बच्चे कसमसा उठते हैं. सावधानीपूर्वक उनकी टोह लेता है, थपकियां देकर ख़ुद ओढ़ने में घुस जाता है. घुसते ही बच्चे उसके बाजुओं में सट जाते हैं. भीखन हाथ से उनकी टोह लेता है, कहीं उघाड़ तो नहीं हुआ? ओढ़ना उन चारों को समेटने में असमर्थ. ओढ़ने को अपनी ओर खींचता तो बच्चे उघाड़ हो जाते. बच्चों को ओढ़ाता तो अपना हिस्सा उघड़ जाता. अपने हिस्से को पैबंद लगी चादर से ढकते हुए बच्चों से कहता है, ''मुझसे सट जाओ. सट-पट के सो रहो.''

बच्चे अपनी टांगें भीखन पर चढ़ा देते हैं. बुढ़ाते शरीर में गर्माहट भी शेष नहीं रह गयी है कि बच्चे राहत महसूस करें. भीखन ने बीड़ी सुलगा ली है. दरअसल वह सोना नहीं चाहता. सोने से पिछले पहर की गहरी नींद की आशंका है. नींद आ गयी तो समय पर गांधी मैदान नहीं पहुंच पायेगा. जहां मुफ़्त कंबल बांटे जाने हैं.

कंबल बांटने वाले नेताजी को पार्टी ने बाहर से बुलाया है. नेताजी दबंग और बाहुबली हैं. धन-बल की कमी नहीं. इनकी बदौलत कभी पराजय का सामना नहीं करना पड़ा. स्थानीय नेता बाहुबली तो नहीं हैं लेकिन समाज में उनकी गहरी पैठ है. उनकी छवि अच्छी है. जनाधार भी,

लेकिन वे विरोधी पार्टी के हैं. उन्हें हराना आसान नहीं. अत: सत्ता पार्टी ने बाहुबली नेता को बाहर से लाकर खड़ा करने की योजना बनायी है.

राजनीतिक सरगर्मियां परवान चढ़ने लगीं. बाहुबली नेता जी गांव-गांव घूमने लगे. लोगों के बीच जाते. उन्हें विनम्रतापूर्वक अभिवादन करते. बोल-चाल की शैली इतनी मधुर कि कहीं से दबंगता नहीं दिखती. लोगों के बीच घूम-घूम कर सेवा का एक अवसर मांगते.

हालांकि चुनाव में अभी देर थी, लेकिन बाहुबली नेताजी के क्षेत्र में पदार्पण से इलाक़े की गतिविधियों में आये बदलाव सहज ही देखने को मिलने लगे. नये-नये जातीय समीकरण बनने लगे. कार्यकर्त्ताओं में भी परिवर्तन दिखने लगा. नेताजी की महंगी गाड़ी के पीछे-पीछे गाड़ियों का काफिला सड़क पर धूल उड़ाने लगा. छुट-भैय्यों में जोश का संचार हो चला. नुक्कड़ चौराहों पर तर्क-कुतर्क सहज ही माहौल में गर्मी पैदा करने लगे.

स्थानीय नेता समर्पित नेता थे. वे सिर्फ़ राजनीति नहीं बल्कि समाजसेवा भी करते. कई दफ़े चुनाव हारे भी. तथापि उनका लगाव स्थानीय लोगों से कम नहीं हुआ. उनका चुनाव हारना या जीतना जनता के मूड पर निर्भर करता. उनकी सेवाभावना देख उनका जनाधार मजबूत था. इसी जनाधार को बांटने की तकनीक पार्टी प्रमुख ने की तथा एक जाति विशेष के बाहुबली नेता को इलाक़े से खड़ा करने की रणनीति को गति प्रदान की और इसी रणनीति के तहत नेता जी द्वारा रिक्शाचालकों को कंबल बांटने की घोषणा की गयी थी.

भीखन को राजनीति के इन दांव-पेंचों से कोई सरोकार नहीं. 'कोई नृप होहिं हमै का हानि' की तर्ज पर यह खेल उसे कहीं से प्रभावित नहीं कर पाया. आज तक उसने वोट दिया ही नहीं था. उसकी बस्ती में कोई प्रचार नहीं होता. वोट डालने का काम स्थानीय कार्यकर्त्ताओं के जिम्मे था. वोट डालने के एक आध दिन पहले उन जैसी बस्तियों में घूम–घूम कर कार्यकर्त्तागण मतदान केंद्रों की संवेदनशीलता से उन्हें डरा जाते.

अभाव और संघर्ष से जूझते ग़रीबों की बस्ती के लोग किसी प्रकार का जोखिम उठाना नहीं चाहते थे. विगत चुनाव में बस्ती के दो-तीन जन अपना परिचय पत्र लेकर मतदान केंद्र पर पहुंचे ही थे कि जाली मतदाताओं की जगह

प्रशांत कुमार सिन्हा

१ अगस्त १९५०, पलौंजिया, गिरीडीह (झारखंड)

शिक्षा : *बी.एस.सी., सन १९७१ देवघर कॉलेज से.*

प्रकाशन : *रचनाएं/कहानियां धर्मयुग, रविवार, हिंदुस्तान, पश्यंती, माधुरी आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित.*

संप्रति : *सरकारी-सेवा से निवृत्ति के उपरांत स्वतंत्र लेखन.*

इन पर इल्जाम लगा दिया गया. चितकबरा (केंद्रीय बल) से ऐसी पिटाई करवा दी गयी कि फिर लोगों ने वोट के नाम पर कान पकड़ लिया. मरहम-पट्टी और दवा-दारू की वजह कई दिन घर में चूल्हा नहीं सुलग पाया था.

कंबल वितरण की घोषणा भीखन की बस्ती तक भी पहुंची. एक छुटभैय्ये ने उसकी झोपड़ी के आगे भी इश्तहार लगवा दिया था. हालांकि इश्तहार वाली पार्टी से भीखन का दूर का भी नाता नहीं था. बल्कि पार्टी पॉलिटिक्स से उसने कभी कोई मतलब ही नहीं रखा था. फिर भी झोपड़ी के आगे इश्तहार लग जाने से गांव में उसकी पूछ बढ़ गयी थी. लोग पूछते अन्य ग़रीबों को भी कंबल मिलेगा अथवा सिर्फ़ रिक्शाचालकों को. छुटभैय्ये ने भ्रम दूर किया, ''कल का कार्यक्रम सिर्फ़ रिक्शाचालकों के लिए है. अगली दफ़ा अन्य ग़रीबों की सेवा की अलग-अलग योजनाएं हैं. मसलन विकलांगों के लिए व्हील चेयर, महिलाओं के लिए शाल-साड़ी. अनाज-किरासन का मुफ़्त वितरण आदि न जाने कितनी योजनाएं हैं, जो शीघ्र ही गांव-गांव में शिविर लगा कर पूरी की जानी हैं.''

झुग्गी-झोपड़ियों में रोशनी की एक किरण टिमटिमाने

लगी. बाढ़ की चपेट में आकर उनकी छोटी-मोटी ज़रूरतों की चीज़ें भी नष्ट हो चुकी थीं. ऐसे में नेताजी की घोषणाओं ने उत्साह को सुगबुगा दिया था. ऐसी घोषणाएं अमूमन चुनाव के समय हुआ करती थीं. लेकिन पिछले कुछ वर्षों से आचार संहिता के भूत से नेतागण भी परहेज करने लगे थे. अत: चुनाव के दूर होने के बावजूद उसकी भूमिका तैयार की जाने लगी थी. लेकिन भीखन इन अंदरूनी बातों से अनभिज्ञ. नेताओं ने ग़रीबों की उपेक्षित रहने वाली बस्ती को इतना महत्त्व क्यों दे रखा था इसकी जानकारी लोगों को नहीं थी.

दरअसल पूर्व के वर्षों में इनकी झोपड़ी तक पहचान पत्र बनानेवाले नहीं पहुंचे थे. पहचान पत्र निर्धारित केंद्रों पर बनाया जाता था जिसके लिए फ़ोटो खींचे जाते थे. छुटभैय्यों ने बड़ी चालाकी से जाली नाम लिखवा कर ग़रीब और अशिक्षित लोगों के बदले दूसरों की तस्वीर खिंचवा दी थी. वोटर लिस्ट के अनुसार उनका नाम सूची में होने के बावजूद दूसरे लोग इनके वोटों का इस्तेमाल मनचाहे अभ्यार्थी के पक्ष में कर देते थे. ग़रीब अनपढ़ जनता को बहला-फुसला दिया जाता कि उनका वोट डाल दिया गया है. पिछले चुनाव में भीखन की बस्ती वालों में कुछ का केंद्रीय बल द्वारा कचूमर निकलवा दिया था, उनके पास पहचान पत्र के वैकल्पिक स्वरूप वाले पहचान पत्र थे. लोगों ने कान पकड़ लिये वोट डालने से.

कुछ जागरूक लोगों ने आयोग तक शिकायत पहुंचा दी. आयोग गंभीर हुआ. पहचान पत्रों की जांच की जाने लगी. सही लोगों को चिन्हित कर उन्हें पहचान पत्र निर्गत किये गये. नकली नामों को सूची से हटाया जाने लगा. सरकारी स्तर पर ग़रीब और अनपढ़ लोगों को पहचान पत्र तथा उसकी उपयोगिता से अवगत कराया गया. लोग अपने मताधिकार के महत्त्व को समझने लगे. इन्हीं कारणों से ग़रीब-गुरबों की बस्ती में भी नेताओं की गाड़ियां धूल उड़ाने लगीं.

अपनी बस्ती में भीखन एक जाना पहचाना नाम था. बस्तीवाले उसकी कद्र करते. अपना अभिभावक मानते. उसके अंदर जाति-पाति, हिंदू-मुसलमान का भेद-भाव नहीं था. यही कारण था कि गांव घर की छोटी-मोटी समस्याएं पुलिस तक पहुंचने के पूर्व सुलझा दी जातीं. थाना-कचहरी से लोगों को राहत मिल जाती. झूठे मुकदमें टल जाते. एक दो दिनों में आपसी विवाद भूल कर भाई-चारा पूर्ववत कायम हो जाता.

जिस छुटभैय्ये ने भीखन के दरवाज़े पर पोस्टर चिपकाया उसी ने उसे कंबल वितरण से अवगत कराया. उसने बड़ी विनम्रता के साथ भीखन से कहा, ''काका बस्ती में रिक्शा चलाने वाले अन्य लोग तो हैं नहीं, एक तुम हो जिसे रिक्शा चलाने का अनुभव है.''

''लेकिन बाबू, मेरा रिक्शा तो महीनों से मरम्मत के अभाव में जंग खा रहा है. बाढ़ क्या आयी, रोजी रोटी पर शामत ले आयी.''

भीखन की द्विविधा ताड़ते ही छुटभैय्ये ने सुझाया, ''तो क्या हुआ, सावजी के खटाल से किराये पर रिक्शा दिलवा दूंगा.''

''सावजी तो पक्का साव है. रिक्शा देने के पहले किराया वसूल लेता है''— भीखन ने कहा,

''नहीं, वैसा कुछ नहीं होगा. मैं कह दूंगा, कमाई करके शाम को किराया चुकता कर देना.''

''.....!''- भीखन सोच में पड़ गया.

भीखन की असमंजसता को टालते हुए छुटभैय्ये ने पासा पलटा, ''अरे काका ठंड में ठिठुरते हो, कंबल मिल जायेगा तो राहत मिलेगी. कंबल है! इत्ता मोटा, साइज इत्ता लंबा-चौड़ा कि धिया-पूता सहित एक ही कंबल में समा जाओगे.''

बाल-बच्चों के सुख के नाम पर भीखन की आंखों में चमक पैदा हो उठी. इस चमक को छुटभैय्या झेल नहीं पाया. बगलें झांकने लगा.

''भीखन काका, ये सारी जानकारी सिर्फ़ तुम्हारे लिए हैं. दूसरे के कान में नहीं पड़े तो अच्छा, वर्ना भीड़ लग जायेगी.''

भीखन ने सिर हिला दिया, किंतु उसके मन में बस्ती के अन्य लोगों का ख़्याल कुलबुला रहा था. बस्ती के अन्य कई लोग ठंड में ठिठुरते हुए जी रहे थे. उसके मन में विचार आया — काश! सुलेमनवां तथा जलील मियां को भी रिक्शा चलाना आता. अपने द्वंद्व को छिपा नहीं पाया भीखन. कह बैठा, ''बाबू सुलेमनवां तथा जलील मियां के बच्चे भी ठिठुर रहे हैं. रिक्शा उन्हें भी मिल जाये तो किसी प्रकार गांधी मैदान पहुंच ही जायेंगे.''

छुटभैय्ये के चेहरे पर बनावटी झल्लाहट उभर आयी,

''बस तुम्हारी परोपकारी नीति से ही मुझे चिढ़ है, मुझे तुम्हारी चिंता है और तुम्हें मियां टोले की.'' उन लोगों के लिए भी व्यवस्था होगी. समझे. फिलहाल ज़्यादा प्रचार करने की ज़रूरत नहीं.''

भीखन खामोश हो गया.

मुआ आज पेशाब कितना लग रहा है! भीखन ने सावधानीपूर्वक गेंदरा से पांव निकाला, बच्चों को थपकियां दीं तथा झोपड़ी से बाहर निकल आया, पेशाब से निवृत्त हो बाहर खड़े रिक्शे की टोह ली. टायर दबा के देखा. फिर अंदर आ गया. अब तो भोर होने को है. गेंदरा में घुसना ठीक नहीं होगा. उसने पुन: एक बीड़ी सुलगा ली. सूखी लकड़ियां होतीं तो जला लेता. लेकिन खाना पकाने के लिए तो लकड़ी मिलती नहीं, तापने के लिए कहां से मिलेगी?

भीखन ने हाथ में लोटा लिया तथा खेत की ओर निकल पड़ा. सियारों को भी शायद ठंड ने काठ मार दिया था. अभी तक उनका 'हुआ-हुआ' सुनाई नहीं पड़ा था. नहीं भौंके! मुर्गा बांग न दे तो भोर रुक तो नहीं जायेगा!''

कुहासा गहरा गया था. पौ फटने के साथ वह रिक्शा लेकर निकल पड़ेगा. तीन किलोमीटर कच्ची सड़क है. पैदल ही रिक्शा लुढ़काते हुए ले जाना पड़ेगा. फिर चार किलोमीटर हाइवे. हाइवे पर तो कोई चिंता नहीं, लेकिन शहर के तीन किलोमीटर तो कच्ची सड़क से भी बदतर जगह-जगह बड़े-बड़े गढ़े, वर्षा, नाले के पानी का जमाव. टूटी सड़क, तिस पर घना कुहासा.

मैदान से लौटते वक़्त खेत की मेड़ से भीखन का एक पांव फिसल गया. बगल में बरसात का पानी अभी भी सूखा नहीं था. इस साल की वर्षा का ख़्याल आते ही बाढ़ के विकराल जल प्रलय के दृश्य उसकी आंखों के सामने गुज़रने लगते हैं. बाढ़ का स्मरण उसे कंपा जाता है. गांव के गांव बह गये. लोगों ने तिनका-तिनका जोड़ कर जिस घर को बनाया था वह देखते ही देखते आंखों के सामने बाढ़ की तेज़ धार में विलीन हो गया. तटबंध क्या टूटा इलाक़े का नक़्शा ही बदल गया. यह तो गनीमत थी कि तटबंध में हो रहे कटाव के ख़तरे से प्रशासन वालों ने पूर्व से आगाह कर रखा था. उन्हें सुरक्षित जगह पहुंचाने की कोशिशें जारी थीं. लोगों ने अपनी जान माल की सुरक्षा की ख़ातिर हाइवे एवं रेल पटरियों के किनारे शरण ले ली थी. वर्ना दो-चार घंटे की देर से गांव का अस्तित्व ही मिट चुका होता.

भीखन के पास मवेशी नहीं थे. जिनके पास थे, उनकी मुसीबत अलग थी. ढोर हांके, बच्चों को संभालें अथवा अपना सामान सहेजें. इन सब में तारतम्य बिठा पाना मुश्किल था. चारों तरफ अफ़रा-तफ़री मची थी. कुछ तो गाय-बकरियों को रंभाते-मिमियाते छोड़ जान बचाकर भागने लगे. बाढ़ का पानी तेज़ी से गांव में घुसने लगा. बड़े-बूढ़ों के कंधे पर बच्चे सवार, महिलाएं जांघ तक साड़ी उठाये, जवानों के सिर पर बक्से-पेटियां. जिसे जो युक्ति लगी, भागता नज़र आया.

अपने तीन पोते-पोतियों को भीखन ने कंधे एवं पीठ पर उठा रखा था. पत्नी एवं बहू घरेलू सामान माथे पर उठाये सूखे स्थल की ओर भाग रही थीं. भागना कहां संभव था. जलप्रवाह के बीच भागने जैसी स्थिति कहां थी. तेज़ धार के बीच अपना संतुलन बिगड़ा कि बच्चों को धार में बह जाने से कोई नहीं बचा सकता. एक बार तो छोटकू भीखन के कंधे से फिसलता-फिसलता बचा. लाठी टेक कर भीखन ने संतुलन बनाया तथा चिल्लाया, ''छोटकू मेरे माथे को कस कर पकड़े रहना. डरना नहीं.''

भीखन की बस्ती वाले ही नहीं, संपन्न लोगों की बस्ती वालों ने भी रेल की पटरी पर शरण ले रखी थी. कोई कह रहा था, हिमालय से निकलने वाली नदियों की प्रकृति को समझे बिना उन्हें तटबंधों से घेरने तथा बराज और बांध बनाकर नियंत्रित करने की कोशिशें विनाशकारी साबित हुई हैं. बाढ़ प्रवण क्षेत्र तथा जल जमाव वाले क्षेत्र निरंतर बढ़ते गये हैं तथा बाढ़ की विध्वंसक क्षमता भी बढ़ती गयी है.

भीखन को इन तकनीकी बातों से कुछ भी लेना-देना नहीं. वह तो इतना जानता है कि बाढ़ एक विनाश लीला है, जो हर साल अपना तांडव नृत्य दिखला जाती है. पानी बरसे अथवा नहीं, नेपाल से निकलने वाली नदियों में उफ़ान आया कि स्थानीय नदियां ख़तरे के निशान से ऊपर उठने लगीं. फिर वही भागम-भाग, तटबंध विभाग द्वारा युद्ध स्तरीय सुरक्षात्मक कार्य. प्रशासनवालों की तत्परता, नेताओं का हवाई सर्वेक्षण ये सारी बातें अब नयी नहीं रह गयी हैं.

बाढ़ राहत से जुड़ी एक और घटना भीखन के

नथुनों में बू के समान समायी बैठी है. भूख से बिलखते बच्चे, माथे पर ढो कर लाया गया राशन-पानी चंद दिनों में ख़त्म हो गया था. रेल-पटरियां क्षतिग्रस्त हो गयीं. सड़कें और पुल टूट गये. जिले की तो बात छोड़ दें प्रखंड तक का संपर्क छूट गया. लोगों की निग़ाहें आसमान की ओर टिकी रहतीं. किसी हेलिकॉप्टर की गड़गड़ाहट सुनते ही नर-नारियां, बच्चे-बूढ़े राहत सामग्री की आस लिये पीछे-पीछे भागने लगे. हेलिकॉप्टर आसमान में चक्कर काट कर लुप्त हो जाते. पीड़ितों की ज़ुबान भद्दी गालियां उगलने लगतीं, ''साले नेतवा सब होगा, आकाश से बाढ़ की विनाशलीला देखने आये हैं. बहन-चो ऽऽ,, जरा पांव उतार कर तो देखें. सब के सब पिकनिक मनाने आते हैं.''

आख़िर राहत सामग्री बांटने वाला हेलिकॉप्टर भी घडघड़ाया. लोग गिरते-पड़ते पीछे-पीछे भागने लगे. भीखन भी उनके पीछे भागा. राहत सामग्री गिराये जाने लगी. जिनकी क्षमता जैसी थी, बोरियों को लूट लिया. भीखन के हाथ कुछ भी न लगा. अनायास उसकी निग़ाह झाड़ियों के पीछे पड़ी राहत सामग्री की एक बोरी पर पड़ी. उसने बजरंगबली को आभार प्रकट किया. बोरी तक पहुंचते ही उसकी आशाओं पर पानी फिर गया. बोरी तो राहत सामग्री की ही थी, लेकिन वह मलमूत्र पर जा गिरी थी. तथा इस कदर घिनौनी दिख रही थी कि उसे उठाना तो दूर छूना तक मुश्किल था. भीखन भारी दुश्चिंता में पड़ गया. कुछ देर खड़ा सोचता रहा, मन में विचार कौंधे, गंदगी तो बाहर लगी है. अंदर का पॉलिथिन तो सुरक्षित होगा और उसने बोरी उठा ली.

न जाने ऐसी कितनी विद्रूप स्मृतियां बाढ़ की विनाश लीला से जुड़ी थीं. फिसलने से उसके पांव में कीचड़ सन गया था. गड्ढे में सावधानीपूर्वक उतर कर पांव धोये, ठंडे पानी से पांव धोना भी महंगा पड़ा. ठिठुरन बढ़ गयी.

भीखन को गांधी मैदान पहुंचना है, जहां रिक्शाचालकों को मुफ़्त कंबल बांटा जाना है. कंबल का ख़्याल उसे ठंड से राहत पहुंचाता-सा लगा. झोपड़ी में प्रवेश कर उसने बच्चों की टोह ली. वे निद्रा में थे. उसने एक चिथड़े से रिक्शे को पोंछा. शीत में पड़े रहने से पूरा रिक्शा गीला हो चला था, अब पौ फटे अथवा नहीं, मुर्गा बांग दे अथवा नहीं उसे निकल जाना है. कुहासे में पौ का फटना भी तो नहीं दिखता...

गांव के खड़ंजा एवं कच्ची सड़क पर भीखन का रिक्शा खड़खड़ाने लगा. रह-रहकर ठंडी हवा सिहरा जाती. पूरे सिर को गमछे से लपेट रखा था भीखन ने. सांस लेने और छोड़ने भर के लिए नाक के नीचे थोड़ी खुली जगह छोड़ रखी थी.

रिक्शे को जंग ने खा रखा था. मालिक ने उपेक्षित पड़े रिक्शों को हल्की-फुल्की मरम्मत कर दूने किराये के साथ चालकों के हवाले कर दिया था. इन्हीं कारणों से रिक्शा चलाने में भीखन को अतिरिक्त शक्ति लगानी पड़ रही थी. इतनी सुबह दुकानें खुलने से रहीं, कि दो चार तेल की बूंदें, चेन, पैडल आदि में डलवा सके. उसने मन को इस ओर से हटाया. इसकी अभी ज़रूरत भी क्या है. अभी सवारी तो ढोनी नहीं है. गांधी मैदान भर पहुंचना है. तब तक दुकानें खुल जायेंगी. दिन भर रिक्शा चलाकर कुछ कमाई कर लेगा. शाम को कंबल के साथ घर वापस. आज बच्चों के साथ पांव पसार कर सो सकेगा. सुख की नींद की कल्पना भीखन में अतिरिक्त ऊर्जा का संचार करती रही.

हाइवे पर रिक्शा दौड़ने लगा. धुंध में रिक्शे की घंटी ट्रिन-ट्रिन बजती रही. रह-रह कर वह चिल्लाता भी रहता, ''बगल से भाई बगल से.'' भीखन सोचता रहा एक दो दिन की कमाई से कंबल का खोल बनवा लेगा, फिर तो रजाई मात!''

रिक्शा हाइवे छोड़ शहर की सीमा में प्रवेश कर चुका था. मुड़ते ही चाय की दुकान देख ठंड में चाय की तलब हो आयी. चाय से अधिक ठिठुरती हथेलियों को गर्माहट चाहिए थी. भीखन रिक्शा किनारे खड़ा कर भट्टी की ओर लपका. लेकिन पहले से जमे लोगों ने भट्टी को इस कदर घेर रखा था कि कहीं से हाथ घुसाने की गुंजाइश नहीं थी. दुकानदार ने चाय का बड़ा बर्तन भट्टी पर चढ़ा रखा था. खौलने में अभी देर थी. चाय पीने की तमन्ना ठंडी पड़ गयी. जितनी देर में चाय का गिलास हाथ में आयेगा उतनी देर में तो गांधी मैदान की आधी दूरी तय हो चुकी होगी. फिर भीखन ने देखा अन्य रिक्शा वाले ताबड़-तोड़ पैडल मारते हुए गांधी मैदान की ओर भागे जा रहे थे. पीछे न पड़ जाये सोचकर हथेलियां आपस में रगड़ीं तथा रिक्शे की सीट पर आ बैठा. एक सवारी ने रोका तो नकारात्मक भाव में हथेलियां लहरा दीं. सभी रिक्शा वाले ऐसा ही कर रहे थे. लोग अपशब्द भुनभुना रहे थे, ''साले कंबल लूटेंगे.''

कमाई नहीं करेंगे काम चोर.''

भीखन के मन में ख़्याल कौंधा—गांधी मैदान की कोई सवारी मिल जाती तो बिठा लेता. लेकिन दूसरे पल यह सोच कर कि पीछे न पड़ जाय अत: मन में उठे विचार को सिरे से खारिज कर दिया. उसके पांव पैडल पर घूमने लगे. ''ट्रिन... ट्रिन...''

ट्रिन-ट्रिन का शोर एक नये किस्म का अहसास करा रहा था. जो जवान और बलिष्ठ थे, दायें-बायें काटते हुए अपने रिक्शे को हवा से बातें करा रहे थे. भीखन भी उन्हें देख जोश में भर उठता. किंतु दो-चार पैडल मारते ही सांस फूलने लगती. जोश स्वत: ठंडा पड़ जाता.

गांधी मैदान पहुंचते-पहुंचते रिक्शों का रेला बन चुका था. लोग तमाशबीन बने सड़क के किनारे खड़े हो नज़ारे का लुत्फ़ ले रहे थे.

भीखन ने गांधी मैदान के सामने गोलंबर में स्थापित महात्मा जी की विशालमूर्ति को नमन किया. एक चालक फब्ती कसने से भी बाज नहीं आया, ''उतरिए बाबा एक कंबल आपको भी दिला देंगे.''

अन्य रिक्शा वालों ने ठहाका लगाया, नाराज़गी के घूंट हलक में निगलते हुए भीखन ने जलती निग़ाह से उन्हें देखा. उन्हें क्या पता महात्मा जी ने इसी इलाक़े में सूट उतार कर लंगोटी धारण की थी. इसे आज के लौंडे क्या जानें.

कोहरा छटा नहीं था अत: मैदान का नज़ारा नहीं दिख रहा था. सिर्फ़ शोर सुनाई दे रहा था. शोर से ही भीखन ने भीड़ का अनुमान लगाया. मैदान में प्रवेश करते ही उसका दिल बैठ गया. पूरा मैदान रिक्शों से पटा पड़ा था. उसे आश्चर्य हुआ इतने रिक्शे हैं इलाक़े में! बाद में जान कर पश्चाताप भी हुआ कि ढेर सारे चालक रात से ही धूनी जमाये बैठे हैं. क्या ही अच्छा होता वह भी शाम को ही आ धमकता. इन्हीं के बीच रात कट जाती. झोपड़ी में भी तो रातभर नींद नहीं आयी थी. ज़ल्दी से कतार में अपने रिक्शे को खड़ा कर हथेलियां रगड़ीं तथा थोड़ा इत्मिमान हुआ. पता चला नौ बजे के आस-पास नेता जी की गाड़ी आयेगी. उनके कर कमलों से कंबल का वितरण होगा. इस बीच रिक्शों के बीच नेताजी का फ़ोटोयुक्त पोस्टर चिपकाने में कार्यकर्त्ता व्यस्त थे.

कंबल से लदी ट्रक एक किनारे खड़ी थी, जिसे लोग हसरत भरी निग़ाहों से देख रहे थे. इंतज़ार की घड़ियां ख़त्म हुईं. लगभग ग्यारह बजे पुलिस की गाड़ियों के पीछे नेताजी की स्कॉर्पियो आ लगी. जय–जयकार से पूरा गांधी मैदान गूंज उठा. चारों ओर अव्यवस्था फैली थी. पहले लेने की होड़ में रिक्शा वाले धक्का-मुक्की तक उतर आये थे.

आठ-दस कंबल बांटने के उपरांत नेता जी वितरण का भार स्थानीय कार्यकर्त्ताओं पर छोड़ चलते बने. भीखन ने देखा कंबल सचमुच उच्च कोटि का एवं लंबा-चौड़ा था.

भीखन भीड़ में घुसने की कोशिश करता कि भीड़ उसे पीछे ठेल देती. एक बार तो धक्का खा कर गिर भी पड़ा. लेकिन यह क्या? नेताजी के जाते ही कंबल का आकार-प्रकार सिकुड़ने लगा.

दो घंटे तक अफ़रा-तफ़री मची रही. कंबल बांटने वाले ने घोषणा की, ''अब कंबल ख़त्म.''

इतना कहना था कि जिन नेताजी की जय-जय कार हो रही थी उनके मुर्दाबाद के नारे गूंजने लगे. झट से एक वरिष्ठ नेता ने माइक थाम लिया, ''शांत होइए, कंबल की दूसरी खेप वाली ट्रक रास्ते में ख़राब हो गयी थी. एक-दो घंटे में आने ही वाली है.''

तीन बज गये. सूर्य भगवान ने कोहरे को चीर कर दर्शन दिये. अगली खेप नहीं पहुंची. जिन्हें कंबल नहीं मिला वे अभी भी आस लगाये बैठे थे. भीखन निराश-सा सड़क के किनारे बैठ गया. भूख से उसका पेट बिलबिला रहा था. घोषणा अभी भी जारी थी कि ट्रक आने ही वाली है. इतने में सर्किट हाउस से निकल कर नेताजी का काफिला धूल उड़ाता गुज़र गया.

लोग आस लगाये बैठे रहे. नेतागण मैदान छोड़ कब खिसक निकले, पता ही नहीं चला. इसी बीच उनमें से किसी ने स्थिति स्पष्ट की, ''अब कोई खेप-वेप नहीं पहुंचने वाली है.''

गमछे से मुंह पोंछता भीखन उठा. उसे रिक्शा खटाल वाले सावजी की चिंता सता रही थी. ''कमाई तो हुई नहीं किराया कहां से भरेगा!'' उसकी जुबान से अस्फुट से स्वर फूटे, ''कमौनी (कमाई) भी गयी, कंबल भी नहीं मिला.''

और भीखन के बोझिल पांव पैडल पर जा दबे.. ''ट्रिन...ट्रिन...''

सागर लहर, बंपास टाउन,
देवसंघ, देवघर (झारखंड)-८१४११४
मो. : ९९३१०५३२५५

कहानी

राम लखन का ...?

डॉ. निरुपमा राय

बालकनी में एकाकी बैठी लता वेदना के सागर में आपादमस्तक डूबती जा रही थी. जब नियति का कशाघात आत्मा को खंडित करके अनिर्वचनीय पीड़ा का सृजन करता है तब इंसान एकाकी.... मौन... स्तब्ध सा होकर कुछ ही पलों में मानो भूतकाल को पुन: जी उठता है. ऐसी ही अवस्था आज लता की हो रही थी.

हृदय से जुड़ा, बालपन की कोमल भावनाओं के मृदुल अहसास से भीगा, रक्त बंधन में बंधा एक नैसर्गिक रिश्ता... जो मन प्राण में उष्मा का संचार करता रहा हो, सहसा सामने से विलुप्त हो, अनंत में मिल जाय तो हृदयविदारक अनुभूति तो होगी ही.

लता की आंखें आंसुओं से लबालब थीं. ''उफ! तू इस तरह अचानक मुझे छोड़कर चला जायेगा... कभी सपने में भी नहीं सोचा था — 'मानो'.... वो बहुत बेचैन थीं.

''मां?'' कहां हैं आप?'' उनकी बेटी स्नेहा ने पुकारा ... पर वो मौन रहीं.

''लता! अकेली क्यों बैठी हो? चलो नीचे भाभी बुला रही हैं.'' उनके पति ने भी पुकारा तो वो भीगे स्वर में बोली — ''प्लीज़! मुझे कुछ देर के लिए अकेला छोड़ दीजिए. मैं कुछ देर में नीचे आ जाऊंगी.''

''ये क्या? अब तक रो रही हो लता?''

''प्लीज़!''

''ठीक है,पर वादा करो अब तुम रोओगी नहीं...'' उनके पति ने कहा तो उसने कोई उत्तर नहीं दिया. आंसुओं पर कभी किसी का वश रहा है भला?

प्रियपात्र की मृत्यु के कारण उपजी पीड़ा अगर आंसू बनकर न झरे तो कोई इंसान जीवित रह सकेगा? संपूर्ण हृदय की यात्रा कर नयन मार्ग से व्यक्त हुई वेदना का अक्षरश: अनुवाद होते हैं आंसू. और भावनात्मक धरातल पर स्वस्थ संबंधों का मौन संवाद भी. आंसू ही तो भावनाओं के पावन अनुबंधों को एक विराटता प्रदान करते हैं.

भीगी पलकें मूंदकर लता ने आराम कुर्सी की पुश्त से सर टिका दिया. अधर मौन थे. पर मन में शब्दों की आंधी सी चल रही थी. मन भूतकाल का पुनर्दृष्टा होकर मुखर हो उठा था. बचपन के अनमोल क्षण पुन: वर्तमान का रूप धर अठखेलियां कर उठे थे. ऐसा लग रहा था जैसे 'लता दी' अपने 'मानो' के समक्ष बैठी मीठे शैशव की मृदु स्निग्ध यादें बांट रही हों....

मेरा और तुम्हारा रिश्ता बचपन से ही न जाने कौन से तंतुओं में बंधा था, ''मानो!''... मात्र चार वर्ष ही तो बड़ी थी मैं तुमसे... फिर भी वो स्नेह वो आदर... अभिभूत हो उठती थी मैं. 'दीदी' के बिना एक कौर मुंह में नहीं डालते थे तुम. हम साथ स्कूल जाते, खेलते-खाते... पर लड़ते-झगड़ते नहीं थे. स्मरण है, दादी मां ने एक बार हमारी नज़र उतारते हुए कहा था, ''नज़र न लगे मेरे राम लखन के जोड़े को.''

''दादी, ये तो बताओ... राम कौन और लखन कौन... ? मैं तो लड़की हूं न?'' मैंने ज़ोर से हंसते हुए पूछा था, तो तुम दादी के कुछ बोलने से पहले ही बोल पड़े थे.

''दीदी! तुम राम मैं तुम्हाला लखन.'' पूरा घर आनंद की ध्वनि से आपूरित हो उठा था, और मैं आह्लाद के अतिरेक से भाव-विभोर.

मां पूछतीं, ''क्यों रे मनोहर! बड़ा होकर भी लखन बना रहेगा न? या फिर अपनी 'दीदी' को ही भूल जायेगा?''

तुम ज़ोर से मेरा हाथ पकड़कर कहते, ''दीदी! मैं तुम्हें भूल सकता हूं क्या?''

''नहीं रे!'' मैं हंस पड़ती.

तुम्हारी वो भयमिश्रित तोतली वाणी आज भी कानों में गूंजती है.

दादी प्राय: तुझसे पूछा करतीं, ''राम लखन का... ?''

निश्छल बाल सुलभ हंसी हंसकर तुम ज़ोर से कह डालते... ''जो ऽऽऽ ड़ा ऽऽऽ!!''

जब कभी तुम किसी बात से नाराज़ परेशान रहते यही प्रश्न क्षणांश में तुम्हारी संपूर्ण उदासी उसी तरह ले भागता जैसे धूप कोहरे को ले भागती है.

शैशव की मधुर यादें दामन में समेटे हम दोनों भाई-बहन बचपन की दहलीज़ लांघने लगे तो रक्त संबंध से जुड़ा यह पावन रिश्ता और मजबूत होता गया. 'मानो!' क्या तुम्हें नहीं लगता यदि माता-पिता भाई-बहन के प्यारे पावन रिश्ते को बचपन में ही प्रगाढ़ बनाते चले जायें, दोनों को एक दूसरे का महत्त्व समझाते चले जायें तो एक अटूट परिवार का सृजन होता जायेगा... व्यक्ति कभी एकाकी नहीं रहेगा.

मात्र पंद्रह वर्ष की ही तो थी मैं जब भीषण ज्वर, जिसे डॉक्टरों ने टायफाइड बताया था - के घेरे में कसती जा रही थी. न दवा असर कर रही थी, न दुआ. ज्वर के भीषण संघात से मैं चेतनाशून्य हो जाती थी, कई दिनों से अन्न का दाना मुख में नहीं डाला था. घर में सबका बुरा हाल था. फिर एक दिन सेब के छोटे-छोटे टुकड़े कटोरी में डालकर तुम मेरे सम्मुख बैठ गये थे.

''दीदी! आज तो तुम्हें खाना ही होगा. जब तक खाओगी नहीं स्कूल भी नहीं जाऊंगा. और रोज़ पूछती हो न... राम लखन का...?'' कभी नहीं बोलूंगा... चलो मुंह खोलो.'' तुम ने साधिकार एक टुकड़ा मेरे मुंह में डाल दिया था. न जाने किस शक्ति के वशीभूत हो मैं उस दिन के बाद धीरे-धीरे खाना खाने लगी थी, ज्वर भी उतरने लगा था.

''हे ईश्वर! इनका स्नेह बनाये रखना.''

मां का आर्द्र स्वर आज भी मन में ध्वनित होता है 'मानो'.

समय की गति कितनी तीव्र होती है इसका अहसास इंसान को तब होता है, जब वो किसी के न रहने से उत्पन्न हुए शून्य को अनुभूत कर ठगा सा खड़ा रह जाता है.

याद है न... मेरे विवाह का दिन... अठारह वर्ष के सुंदर सौम्य मनोहर के मुखड़े पर आनंद मिश्रित वेदना की स्पष्ट छाया... ? एक ओर बहन के सुख सौभाग्य की कामना से उत्पन्न आह्लाद तो दूसरी तरफ विछोह का दंश... सारे काम ऐसे निबटाये थे तुमने जैसे किसी ने जादू की छड़ी फेर दी हो. विदाई के क्षणों में बार-बार रुलाई रोकने के प्रयास में होंठ काट रहे तुम्हारे सर पर स्नेह से हाथ फेरकर मैंने पूछ ही लिया था — ''मानो! राम लखन का...?''

तुम बिलखकर मेरे चरणों में झुक गये थे. इस प्रश्न का उत्तर तुम्हारे मन में जो कौंध गया था. अपने जीजा जी से भी तुमने यही मांगा था, ''मुझे आपसे केवल यह वादा चाहिए... अगर आप मुझसे किसी बात पर रुष्ट हो जायें तब

कथाबिंब की हितैषी एवं नियमित लेखिका

भी दीदी को मुझसे मिलने से नहीं रोकेंगे. और वो जब भी मुझे पुकारेगी मैं हाथ बांधे उसके समक्ष खड़ा मिलूंगा.''

तुम इतने बड़े झूठे निकलोगे कभी सपने में भी नहीं सोचा था. आज पुकारूंगी तो क्या आओगे, 'मानो'?

तुमने जीवन का हर कार्य मेरे विमर्श से ही किया. सबका आशीष सर माथे लिया, तभी तो माधवी जैसी सुघड़ पत्नी और पूजा और पियूष जैसे प्यारे बच्चे मिले.

''दीदी! जीजा जी के रिटायरमेंट के बाद तुम हमारे शहर में ही बस जाना, यहीं पास में एक अच्छा प्लॉट खाली है... मैंने बात भी पक्की कर ली है. मैं जीवन पर्यंत तुम्हारे आशीष तले रहना चाहता हूं.'' मैंने तुम्हारी यह बात भी तो मान ली थी न? आज घर है, मैं हूं... तुम कहां हो 'मानो?'

जब कभी छुट्टियों में मायके आती तुम छोटे बच्चे से बन जाते. अल्पभाषी, सौम्य व्यक्तित्व का धनी विद्वान इतिहासवेत्ता डॉ. मनोहर चौधरी कहीं खो जाता और मेरा ही तोतला नन्हा भाई सामने खड़ा हो जाता, जिससे मैं पूछा करती थी...''राम लखन का...?''

माधवी कहती, ''दीदी! आपके कारण ही इनका बचपन आज भी वर्तमान है, अभी कोई देख ले इन्हें तो धोखा खा जाय.... कॉलेज में घुसते हैं तो सबको सांप सूंघ जाता है. पढ़ाते हैं तो छात्र मंत्रबिद्ध-सा सुनते हैं... वक्ता ऐसे कि श्रोता आंखों में कौतुहल और मन में अपार आदर समेटे हतप्रभ रह जाते हैं. और व्यक्तित्व ऐसा कि लगता है जैसे नाक पर बैठी मक्खी उड़ाने के लिए भी एक नौकर होगा... और अभी देखिए, पाजामा पिंडलियों

ग़ज़लें

✍ वीनस केशरी

हम न पूछेंगे तेरे दामन में क्या है ज़िंदगी,
मांग कर तुझसे किसी को क्या मिला है ज़िंदगी ।
एक पल को हर सफ़र का अंत है और जश्न है,
और एक पल में भटकता काफ़िला है ज़िंदगी ।
दोपहर को जो झुलसती सांस के जैसी मिले,
वो ही ढलती शाम को मां की दुआ है ज़िंदगी ।
मुझसे बाज़ी जीत कर भी तू बहुत बेचैन है,
आ बता दूं तूने कब कब छल किया है ज़िंदगी ।
चाहे जैसे जी ले इसको जीत कर या हार कर,
जंग भी तेरी तेरा ही फैसला है ज़िंदगी ।

तिमिर की गली के मुहाने पे सूरज,
अड़ा है कोई गुल खिलाने पे सूरज ।
सितारों ने की रात मिन्नत मनौती,
तो निकला है कितना मनाने पे सूरज ।
विरासत लिखा कर जो पैदा हुए हैं,
तुले हैं सब उनको बनाने पे सूरज ।
कहीं तीरगी से मुहब्बत न कर लें,
लगी शर्त में हार जाने पे सूरज ।
वो ख़ुद को पिघलने से कब तक बचाता,
जो रखने लगा था निशाने पे सूरज ।

जनता पुस्तक भंडार, १४२, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

तक उठाये मात्र बनियान डाले आपके साथ रसोई में आलू छील रहे हैं.''

''हां, हां उड़ाओ मेरा मज़ाक, पर याद रखो एक भी आलू की टिकिया चखने नहीं दूंगा.'' तुम मुंह बनाकर कहते तो सब हंस पड़ते. मैं सोच में डूब जाती, ठीक ही तो कहती है माधवी, भाई-बहन का सुदृढ़ स्नेह बचपन को हमेशा मुट्ठी में सहेजे रखता है. यह एक ऐसा अलौकिक रिश्ता है, जिसमें कोई लेन-देन नहीं होता, न कोई ऋण चुकाना होता है. न ही कोई समझौता निभाना होता है. आस्था की बुनियाद पर रखा यह पावन रिश्ता कोई शर्त नहीं रखता.

''मानो!'' कहां विलुप्त हो गये वो क्षण. किस जादूगर ने अपनी डिबिया में समेट लिये? उस दिन तुम्हारे आनंद का पारावार नहीं था जिस दिन तुम्हारे बहनोई के रिटायरमेंट के बाद मैं वापस अपने घर लौट आयी थी.

''दीदी! अब राम लखन का जोड़ा कभी नहीं बिछुड़ेगा. बस पांच-छह वर्ष में मैं भी रिटायर हो जाऊंगा, फिर हर क्षण तुम्हारे स्नेहाच्छादित आंचल तले ही बिताऊंगा. ढेरों किताबें लिखूंगा... खूब खाऊंगा...''

'मानो!' कहां रखूं इतने स्नेहमान को? आज जहां हर रिश्ते की नींव में कटुता है वहां इतना आदर कहां सहेजूं? मैं अपने सौभाग्य पर इतरा उठी थी.

कॉलेज से लौटते हुए प्रतिदिन तुम मेरे घर आना नहीं भूलते थे. नित्य नये व्यंजन खाने की बचपन की तुम्हारी इच्छा अब सर चढ़कर मुखर हो उठी थी.

तुम्हारे बहनोई अक्सर कहते, ''लता! बड़ी भाग्यवान हो तुम, जो तुम्हें मनोहर जैसा सहोदर मिला. अच्छे-बुरे हर वक़्त में इसने हमारा साथ दिया है. आज के भौतिकवादी युग में तो जीवन का सार लगने वाले रिश्ते भी भार लगने लगे हैं. ऐसे में तुम्हारा यह भाई विधाता की अनुपम भेंट है तुम्हारी झोली में.''

मैं भावविभोर हो हृदय से तुम्हें आशीष देती. फिर कहां चूक हो गयी 'मानो!' तू अपनी 'दीदी' से रूठकर कभी न लौटने के लिए क्यों चला गया?

कभी विस्मृत नहीं कर सकती वो दिन, जब तुम शाम को घर आये थे और तुरंत फरमाईश कर डाली थी — ''दीदी, आज तो चाशनी वाला हलवा खाकर ही जाऊंगा.''

''नहीं मानो! तुझे डायबिटीज है, मैं अपने हाथ से

तुझे इतना मीठा नहीं खिला सकती.''

''खिला दो... खिला दो... अब शायद जीवन भर खिला नहीं पाओगी.'' तुम वही चिर-परिचित बालसुलभ हंसी हंसे थे.

मैं कांप गयी थी, ''मानो! क्या अशुभ बोल रहे हो?''

''दीदी! मैंने आपसे कभी कुछ छिपाया है. जो ये बात छिपाऊंगा? कुछ दिनों से पेट-कमर में दर्द रहता है... यूरिन में भी कुछ तकलीफ थी. डॉक्टर से मिला तो उसने किडनी प्रॉब्लम की ओर संकेत किया है... मैंने माधवी से भी नहीं कहा है. तुम उससे कहो परसों दिल्ली जाने के लिए तैयारी करे.... फिर...!''

तुम सहज भाव से बोलते जा रहे थे, मैं संज्ञाशून्य सी बैठी थी.

फिर...? सब कुछ अनचाहा घटित होता रहा.

दिल्ली आयुर्विज्ञान संस्थान में भी पुष्टि कर दी गयी, कि तुम्हारी दोनों किडनियां ख़राब हो चुकी हैं. पूरा परिवार इस आघात से उपजी पीड़ा के भंवरजाल में फंसा कसमसा रहा था. माधवी की जिद पर तुम उसके साथ बेहतर इलाज के लिए 'वेलौर' जाने लगे तो जाते-जाते मुझसे प्रथम बार पूछ गये, ''दीदी! आज मैं पूछता हूं — राम लखन का...?''

मेरा अंतस, विदीर्ण हो उठा... अधर कांप कर रह गये, मैं 'जोड़ा' नहीं कह पायी. तुम एक मायूस मुस्कान लिये मेरी नज़रों से ओझल हो गये थे. ''मानो!''.... मैं आशीष को अंजुरी में भर ईश्वर से प्रार्थना करती रही. हे प्रभु! मेरा भाई सदा स्वस्थ रहे.

एक शाम द्वार पर दस्तक हुई.

''कौन?''

''मैं हूं दीदी! डॉ. मनोहर चौधरी वेलौर रिटर्न.'' तुम्हारा वही ज़ोरदार ठहाका बरामदे में गूंज उठा था.

लंबी चौड़ी कद काठी वाला 'मानो' न जाने कहां विलुप्त हो गया था. हाथ में छड़ी लिये कृशकाय कोई दूसरा ही व्यक्ति सामने खड़ा था.

उफ़! कितना निर्दयी होता है काल... जो क्षणांश में सुखों की परिधि को लांघ दुःख के अगाध सागर में हठात खींच ले जाता है.

कितनी रोयी थी मैं... 'मानो' तुझे कुछ नहीं होगा... मैं तुझे अपनी किडनी दूंगी... पर बेहद हठी थे तुम... शायद पहली बार मेरी बात नहीं मानी तुमने. आर्द्र कंठ में इतना ही कहा, ''दीदी! मैं तुमसे केवल आशीष लूंगा, और कुछ नहीं... वैसे भी जन्म लिया है. तो मृत्यु से भय कैसा? पूरा जीवन आनंद से जिया हूं... जब तक हूं कोई दुःखी नहीं होगा.... कोई नहीं रोयेगा...''

पर पूरा परिवार पाले से झुलसी कमलिनी-सा मृतप्राय था. दिन सरकते जा रहे थे. जिन हाथों से तुम्हें तरह-तरह के पकवान खिलाती आयी थी उन्हीं हाथों से नाप कर खाना और पानी देने में कलेजा मुंह को आता था 'मानो!' अंतिम सांस लेते हुए भी तुमने मेरा ही मान रखा था.

''मत रोओ माधवी! 'दीदी' हैं न. पूजा... पियूष.. पापा नहीं रहेंगे तो क्या... बुआ हैं न? जीवन बहुत सुंदर है बच्चों... जीना सीखो... चलते रहो...''

और हम सबको काष्ठ प्रतिमा में तब्दील कर हमारी संज्ञा ही मानो पाथेय के रूप में लेकर तुम अनंत में विलीन हो गये. खंडित हो गया राम लखन का जोड़ा.

'मानो!' पंडित कर्मकांडी कह रहे हैं तेरहवीं के बाद इस सुंदर संसार से तुम्हारा अस्तित्व समाप्त हो जायेगा. पर मैं ऐसा नहीं मानती, जानती हूं अपनों के असमय प्रयाण से मिली पीड़ा असह्य ही नहीं असाध्य भी होती है. भोगे विगत को, यदि वो मधुर रहा हो विस्मृत करना सरल सहज नहीं है. जीवन भर पीड़ा की पगडंडी पर गतिमान रहूंगी... फिर भी मेरे अंतर्मन में तुम सदा जीवंत रहोगे मेरे भाई!

ईश्वर से प्रार्थना करती हूं, संसार में सभी भाई-बहन के पावन रिश्ते को समझ सकें... जब कभी अपनी 'दीदी' के प्रति किसी 'मानो' की अटूट स्नेह पगी श्रद्धा निरखूंगी, स्वयं से ही प्रश्न करूंगी.... 'राम लखन का..? और मेरे अंतस के एक निर्मल कोने में स्थापित तुम्हारी स्मृति निसंदेह जीवंत हो बोल पड़ेगी..... ''जो ऽऽऽ ड़ाऽऽऽ!!!''

पर मैं नहीं रोऊंगी. सच, तुम्हारी सौगंध कभी नहीं रोऊंगी. लता फूट-फूट कर रो रही थी.

द्वारा विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना-८००००५, मो. ९४३०९२७४१६/८४०९१०२१७९

आमने-सामने

"संभावनाओं के गगन में..."

डॉ. निरुपमा राय

बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठ खोलना चाहता है, लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने-सामने'. अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नी सिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, (स्व.) सुमन सरीन, डॉ. फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ. उर्मिला शिरीष, रामनाथ शिवेंद्र, अलका अग्रवाल सिगतिया, संजीव निगम, सूरज प्रकाश, रामदेव सिंह, मंगला रामचंद्रन, प्रकाश श्रीवास्तव, सलाम बिन रजाक, मदन मोहन 'उपेंद्र', भोला पंडित 'प्रणयी', महावीर रवांल्टा, गोवर्धन यादव, डॉ. विद्याभूषण, नूर मुहम्मद 'नूर', डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम', सुरेंद्र रघुवंशी, राजेंद्र वर्मा, डॉ. सेराज खान 'बातिश', डॉ. शिव ओम 'अंबर', कृष्ण सुकुमार, सुभाष नीरव, हस्तीमल 'हस्ती', कपिल कुमार, नरेंद्र कौर छाबड़ा, आचार्य ओम प्रकाश मिश्र 'कंचन', कुंवर प्रेमिल, डॉ. दिनेश पाठक 'शशि', डॉ. स्वाति तिवारी, डॉ. किशोर काबरा और मुकेश शर्मा से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है डॉ. निरुपमा राय की आत्मरचना.

जब डॉ. अरविंद जी का पत्र मिला कि मैं 'आमने/सामने' स्तंभ के लिए आत्मरचना प्रेषित करूं तो क्षण भर के लिए चिंतन में पड़ गयी. मैं तो सृजन के उस मोड़ पर खड़ी हूं जहां से भविष्य में कई रचनाएं अस्तित्व में आने को मचल रही हैं. अभी लेखकीय जीवन का थोड़ा सा ही तो मार्ग तय किया है. फिर जैसे अंतर्मन से आवाज़ आयी... अपनी अनुभूतियों को अपने प्रिय पाठकों से बांटने का अलौकिक अवसर ईश्वर ने मुझे दिया है, और मैं इस मौक़े को सहर्ष स्वीकार करूंगी.

सोचा भी नहीं था कि लेखन से मेरा रिश्ता इतना प्रगाढ़ हो जायेगा — मैं बचपन से ही पुस्तकें पढ़ने की शौक़ीन थी पर लिखने के बारे में कभी नहीं सोचा था. मेरा बस एक ही सपना था ख़ूब पढ़कर ऊंची डिग्रियां हासिल कर प्रोफ़ेसर बनना. मेरे जीवन में — अब तक के जीवन में अर्थात इन ४६ वर्षों में — कुछ भी सरलता से नहीं घटा. परंतु ईश्वरीय वरदान यह है कि भले ही मेरा प्रत्येक मार्ग कठिन रहा हो, अंत में सफलता ने मेरे क़दम चूम ही लिये हैं. अब जन्म ही लीजिए, माता-पिता के विवाह के चौदह वर्ष बाद मैं उनकी गोद में आयी. मेरे नाना पं. जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' बिहार के प्रसिद्ध कवि-कथाकार थे. मेरे जन्म के समय ग्लूकोमा नामक रोग से उनकी दृष्टि चली गयी थी. प्रथम नातिन को न देख पाने की उनकी व्यथा इतनी गहन थी कि उन्होंने विह्वल होकर आर्द्रकंठ से मेरी मां से कहा, "न जाने यह कैसी है.... किसके जैसी है... देख पाता तो कोई उपमा देता.... दृष्टिहीन हूं न .... इसलिए इसे 'निरुपमा' कहकर बुलाऊंगा..." और मुझे अपने विद्वान नाना से आशीष के रूप में अपना नाम मिला. मेरा शैशव राजकुमारियों सा बीता.... इतना लाड़-प्यार मिला कि आज माता-पिता के न रहने पर भी उन्हें अपने आस-पास प्रत्यक्ष अनुभूत करती हूं. जहां कहीं भी अवसाद के बादल होते हैं, मानो पिता स्वयं प्रत्यक्ष होकर कह उठते हैं .... जीवन सकारात्मक सोच का प्रतिबिंब है बेटा! अच्छा सोचो.... अच्छा करो... अच्छा पाओ!

बचपन से ही मैं पढ़ाई में अव्वल थी. पापा सेंट्रल सर्विस में थे फलत: नैनीताल, पिथौरागढ़ में मैट्रिक तक की पढ़ाई की. फिर इलाहाबाद बोर्ड से इंटर की परीक्षा पास कर नागपुर विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध 'लेडी अमृतबाई डागा कालेज' में बी.ए. प्रथम वर्ष में प्रवेश मिल गया. इसी वर्ष

विवाह भी हुआ. मैं उन गिनी-चुनी सौभाग्यशाली स्त्रियों में से एक हूं जिन्हें अपने जीवन के दो प्रधान पुरुष पिता एवं पति का भरपूर स्नेह, सहयोग, समर्थन और सम्मान प्राप्त होता है. दोनों के सहयोग की छत्रछाया में मेरा करियर परवान चढ़ने लगा. बी.ए. फ़ाइनल की परीक्षा के बाद प्रथम संतान, बिटिया पायल को पाकर मां बनने के अपरिमित गौरव से भर उठी. फिर सब कुछ अच्छा-बहुत अच्छा घटता गया. संस्कृत में एम.ए. किया पटना विश्वविद्यालय से. विश्वविद्यालय में द्वितीय स्थान प्राप्त किया. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग 'नेट' परीक्षा पास की... 'विष्णु पुराण में भक्ति तत्त्व' विषय पर शोध किया. और व्याख्याता पद हेतु साक्षात्कार की तैयारी में लग गयी.... यहां तक जीवन का हर सुख उन्नति का हर राग .... अपनों का अनुराग अनुभव किया. जीवन मानों आनंद के हिंडोले झूल रहा था कि अचानक कुछ ऐसा घटा जिसने ज़िंदगी के प्रति मरे नज़रिये को हिलाकर रख दिया. भ्रष्टाचार पैरवी और पैसे की महत्ता ने मेरी उच्च महत्त्वाकांक्षा और डिग्रियों को लील लिया. शैक्षणिक भ्रष्टाचार की शिकार बनकर आकाश से गिरते परकटे परिंदे की तरह, चयनित व्याख्याताओं की सूची में पागलों की तरह अपना नाम खोजती अनायास अवसाद के कठोर धरातल पर धराशायी होती चली गयी. मेरी दशा अंटार्कटिक में रहनेवाले उस व्यक्ति की भांति थी जिसे हठात रेगिस्तान की धूल भरी गर्म आंधियों में खड़ा कर दिया जाये. आज भी उन क्षणों का स्मरण करती हूं तो सर्वांग सिहर उठता है. यही वो गहन अंधकार वाला काल था जब सहसा नियति ने मेरी मां को भी असमय मुझसे छीन लिया. मैं टूट चुकी थी.... जीवन नीरस और बेकार बेजान सा लगने लगा था. किसी के समझाने का भी कोई असर नहीं होता था. सब कुछ मुट्ठी से रेत की तरह फिसलता महसूस हो रहा था. इस कठिन दौर में भी मैं एक चीज़ नहीं भूली थी... अपनी प्रतिदिन डायरी लिखने की आदत. मन की पीड़ा डायरी के पन्नों में उतारती मैं सहज होने का लाख प्रयत्न करती, पर टूटती जाती. इस दुष्कर समय में ईश्वर ने फिर मुझ पर कृपा की.... मेरी छोटी बेटी प्रिया मेरी गोद में आयी और मैं पुन: जीवन के मीठे स्पंदनों से जुड़ने लगी. मेरे पिता प्राय: मुझे समझाते रहते, ''बेटा! ईश्वर अगर सारे दरवाज़े बंद कर देता है तो उस क्षण रोकर मूर्खता नहीं करनी चाहिए. उस पल तो आंखें खोलकर चारों तरफ देखना चाहिए.... कहीं न कहीं एक छोटी सी खिड़की ज़रूर खुली मिलेगी. और खिड़की सचमुच खुली हुई मिली... उससे झरते प्रकाश ने मुझे स्पष्ट संकेत दिया कि मेरे जीवन में ईश्वरीय अनुभूतियों का समय आ गया है. मेरे पिता ने एक दिन मेरी डायरी पढ़कर कहा, 'इतना अच्छा लिख लेती हो... इस लेखन कला को डायरी के पन्नों में नहीं सार्थक कहानियों, कविताओं और लेखों में ढालो तो कोई बात बने.'' मेरा एक ही रटा-रटाया उत्तर था, अब मुझसे कुछ नहीं होगा, इतनी उच्च शिक्षा पाकर भी क्या हुआ.... क्या पाया? मेरी डिग्रियां मेरी थीसिस मुंह चिढ़ाते प्रतीत होते हैं. और फिर पापा ने एक कहानी सुनायी... सच कहती हूं उस कहानी ने मेरे अंतस की आंखें खोल दीं. मैं उसमें छिपे गूढ़ार्थ ... उसके मर्म को समझ गयी... मैं समझ गयी कि प्रत्येक नकारात्मक शक्ति व्यक्ति की दृढ़ इच्छाशक्ति और सकारात्मक सोच के आगे हार जाती है.

कहानी थी, ''एक आदमी एक बिल्ली को गोद में उठाये घूमता रहता. जहां कहीं कोई मिलता... कह उठता, मेरी बिल्ली चाहे तो शेर को पछाड़ दे! लोग उसे पागल, सिरफिरा कहते, हंसते, और अपनी राह चल देते. एक दिन एक जिज्ञासु उधर से गुज़र रहा था. उससे भी उस आदमी ने कहा, 'मेरी बिल्ली चाहे तो शेर को पछाड़ दे!'

जिज्ञासु बोला, ''क्या बार-बार रटते रहते हो, मेरी बिल्ली... मेरी बिल्ली... अरे! शेर को पछाड़ सकती है तो पछाड़ती क्यों नहीं?'' उस आदमी के चेहरे पर एक रहस्यमयी मुस्कान कौंध उठी. उसने कहा, ''चाहती ही नहीं, चाहे तो पछाड़े न?'' मेरे अंदर जैसे असंख्य दीप एक साथ जल उठे थे. पापा ने हंसते हुए मेरी पीठ थपथपाकर कहा था, ''अब मैं कहता हूं मेरी बिल्ली भी चाहे तो शेर को पछाड़ दे...''

मैं समझ गयी थी, 'चाह' से 'राह' ज़रूर मिलती है. श्रुतियों का यह कथन कि माता-पिता पृथ्वी के भगवान हैं शत प्रतिशत सत्य है. पिता की प्रेरणा से मेरी पहली ही कहानी 'अनुभूति' राजस्थान साहित्य अकादमी की पत्रिका 'मधुमती' में प्रकाशित हुई. और पहली कविता 'आहट', 'कादंबिनी' जैसी श्रेष्ठ पत्रिका में छप गयी. पिता का आशीष फलित हुआ... इन दोनों रचनाओं पर व्यापक पाठकीय प्रतिक्रिया मिली और मेरे सुप्त अंतर्मन

से जैसे आशा का सोता फूट पड़ा. मेरी दूसरी कहानी 'डायरी' जो 'मेरी सहेली' में छपी उसने मेरे जीवन को दृढ़ता से लेखन से जोड़ दिया. अद्भुत पाठकीय प्रतिक्रियाओं से अभिभूत होकर निरंतर लिखने लगी. लेखन ने मेरे मन पर छाये अवसाद के घने कोहरों को हटाने में सर्वप्रमुख भूमिका निभायी. यह वर्ष २००० की बात है .... आज २०११ में मेरी मुट्ठी में है, दो सौ के लगभग विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में छपी कहानियां, कई आलेख एवं कुछ कविताएं, तीन कहानी संग्रह- 'और झरना बह निकला', 'खूंटे से समाधि तक' और 'चाक पर मिट्टी' (शीघ्र प्रकाश्य). एक शोध ग्रंथ, जिसमें वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक स्त्री दशा का आकलन है और २९ कहानी पुरस्कार जो विभिन्न प्रतिष्ठित कथा प्रतियोगिताओं में प्राप्त हुए.

मेरे जीवन में २००१ में एक और परिवर्तन हुआ. बिहार में पंचायत-चुनाव वर्षों बाद होने जा रहे थे... संयोग से मेरे क्षेत्र की जिला परिषद सदस्य की सीट महिला आरक्षित हो गयी थी. मेरे लाख मना करने के बाद भी मेरे ससुराल के गणमान्य लोगों और मेरे परिजनों ने मेरे नामांकन का पर्चा भर ही दिया. उस पल मुझे क्या पता था, कि ईश्वर मेरे लेखकीय जीवन को यथार्थ, भूख, ग़रीबी और वेदना की असंख्य कहानियों से जोड़ना चाहता है. सच ही तो है, यथार्थ लेखन, यथार्थ दर्शन एवं अनुभूत तथ्यों से ही तो उभरकर सामने आता है. ईश्वर की असीम कृपा थी तभी तो एक अल्पसंख्यक बहुल क्षेत्र से तीन अल्पसंख्यक उम्मीदवारों के रहने पर भी मैं जीत गयी... जीत भी कैसी हज़ारों वोटों से आगे... उस अदभुत क्षण को, उस उल्लास को... उस विजय जुलूस को... उन गगनभेदी विजयी नारों को केवल महसूस किया जा सकता है... कुछ अनुभूतियां अनिर्वचनीय होती हैं. मैं कटिहार जिला परिषद की सदस्या बन गयी तो गांव-देहात के दुष्कर जीवन को निकट से देखने का अवसर मिला. क्षेत्र भ्रमण के दौरान भूख, ग़रीबी, अशिक्षा, अंधविश्वास और लाचारी के कई रूपों से प्रत्यक्ष साक्षात्कार हुआ. हे ईश्वर! भूख कितनी दारुण सच्चाई है...! असंख्य छिद्रों से भरे फूस के छप्पर के नीचे आधा पेट खाकर पड़े ग़रीब परिवारों पर भीषण वर्षा कितना क़हर ढाती होगी? बीसियों पैबंद लगी जर्जर साड़ी से किसी तरह शरीर ढकने में असमर्थ विधवा कमली असहायता की पराकाष्ठा महसूस करती होगी न, जब दुष्ट, अमानवीय कृत्य करने में तनिक भी लाज महसूस न करने वाला मुखिया उसके 'इंदिरा आवास' का पैसा हज़म कर जाता होगा? विकलांग सलीम को कब मिलेगी सरकारी सहायता? सैकड़ों मन अनाज सरकारी गोदाम में सड़ता रहता है और भूख से तड़पकर भीखू मर जाता है क्यों? मेरा संवेदनशील मन... एक रचनाकार का अंतर्मन मर्माहत होकर चिंतन पर विवश हो गया था. मुझे संतोष है कि अपने पांच वर्ष के कार्यकाल में मैंने यथाशक्ति उनके लिए कार्य करने का प्रयास किया जो समाज का वंचित वर्ग है. २००५ में मेरा कार्यकाल समाप्त हुआ. मैं दोबारा चुनाव लड़ूं या नहीं इस दोराहे पर खड़ी थी कि सहसा 'स्लिप डिस्क' जैसे भीषण कष्ट के घेरे में फंस गयी... पुन: ईश्वरीय अनुभूति से दो-चार हुई. शायद ईश्वर नहीं चाहते कि अब मैं दोबारा उस क्षेत्र में पांव रखूं... चुनाव में जीतकर मैंने जो देखा-पाया उसे अपने कहानी संग्रह 'खूंटे से समाधि तक' की कहानियों में उतार दिया. उन पांच वर्षों की अनुभूति 'फलका-वन' नामक बृहत उपन्यास में लगभग कैद हो गयी है. ईश्वरीय कृपा से मैं वो करती जा रही थी जो कभी सपने में भी नहीं सोचा था. संत पलटु दास की पंक्तियां मेरे जीवन में सार्थक हो रही थी-

''जो भी किया तुमने किया,
हमने किया कुछ नाहिं ।
जो कभी कुछ हमने किया,
तुम ही थे मुझ मांहि ॥''

आज जब लोग मुझसे प्रश्न करते हैं, कि आपकी पारिवारिक पृष्ठभूमि इतनी सुदृढ़ रही है, बचपन से जिस परिवेश में आप पली-बढ़ी हैं उस संपन्न परिवेश में आपने भूख, ग़रीबी, लाचारी को कहां देखा... जो आप लिखती हैं? क्या कल्पना इतनी यथार्थ हो सकती है? तो मेरी आत्मा में कौंध उठते हैं वो पांच वर्ष जो ईश्वरीय अनुभूतियों और जीवन से प्रत्यक्ष साक्षात्कार के साक्षी थे.

लेखन से जुड़कर मैं अपने जीवन को धन्य मानती हूं. कोटिश: धन्यवाद देती हूं उस परमपिता परमेश्वर को जिसने 'उस' द्वार को बंद कर यह खिड़की खोली. सच... अगर उस समय प्रोफ़ेसर बन जाती तो मनचाहा स्थान पाकर जीवन ठहर जाता और जीवन ठहराव नहीं गति है. श्रुतियों का नाद है, चरैवेति.... चरैवेति अर्थात चलते रहो.

पिता ने प्रेरणा दी और मैंने चलना सीख लिया था. पर एक बात मन में फांस सी चुभती थी. मैं कई बार अपने पति से कहती — ''बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है ... फिर मैंने नेट पीएच. डी. क्यों की पता नहीं... क्या उपयोग है इनका मेरे जीवन में? ऐसे राज्य में रहती हूं जहां बीस-पचीस वर्षों में कभी वैकेन्सी निकलती है... पता नहीं इस जन्म में कॉलेज में पढ़ाने का सपना सच होगा भी या नहीं? वो कहते, ''कारण-कार्य संबंध अटल है, प्रतीक्षा कीजिए.''

इन्हीं दिनों पायनियर बुक कंपनी की एक पत्रिका ''वेद अमृत'' ने राष्ट्रीय स्तर पर वेद उपनिषद एवं पुराणों से संबद्ध आलेख प्रकाशनार्थ आमंत्रित किये. मैंने भी उनसे संपर्क किया और मुझे पुराणों पर आलेख लिखने का स्वर्णिम मौक़ा ईश्वर ने प्रदान किया. पुराणों के साथ-साथ वेदों एवं उपनिषदों पर भी मेरे आलेख इस पत्रिका में निरंतर छपे. मुझे कहां ज्ञात था कि ईश्वर इन कार्यों के माध्यम से मुझे एक बहुत बड़ी उपलब्धि के लिए तैयार कर रहा है. मैं निरंतर रचनाधर्म में रत जीवन की राह में बढ़ती जा रही थी पर मन था जो संतोष ही नहीं पाता था. कविवर 'बच्चन' जी की निम्न पंक्तियां मन में कोलाहल मिश्रित उम्मीद का सृजन करती रहती थीं -

''मैं कितना भी भूलूं, भटकूं या भरमाऊं,
है दूर कहीं एक मंजिल, जो मुझे बुलाती है ।
कितने भी मेरे पांव पड़ें उल्टे-सीधे,
प्रतिपल वो मेरे पास चली ही आती है ।।''

वर्ष २०१० के मध्य में सप्ताह भर पुराना समाचार पत्र अलमारी में बिछा रही थी कि सहसा एक विज्ञापन पर दृष्टि ठिठक गयी. न जाने कैसे पढ़ते समय इस विज्ञापन पर किसी का ध्यान नहीं गया था.... आश्चर्य की बात थी, क्योंकि समाचारपत्र को सूक्ष्मदृष्टि से पढ़ना मेरे पति की आदत है. ठीक ही कहा है किसी फकीर ने... ''जब -जब जो-जो होना है, तब-तब सो-सो होता है.'' यह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग. (यू.जी.सी) द्वारा पोस्ट डॉक्टरल रिसर्च फैलोशिप हेतु विज्ञापन था. मेरे आनंद की सीमा नहीं थी... ईश्वर ने इसे अचानक मेरे हाथ में देकर शायद वो मार्ग सुझाया है, जो मुझे मेरे सपने की तरफ़ ले जा सकता है. पर मन भयभीत भी था, ''क्या मुझसे हो पायेगा?'' तब मेरे पति की कही एक पंक्ति ने मेरे मन में दृढ़ विश्वास का सृजन कर दिया, ''आपसे नहीं होगा, तो किससे होगा?'' मैं आशान्वित तो थी ही क्योंकि आवेदक की सभी अर्हताओं को मैं पूरा कर रही थी. नेट, पीएच. डी. शताधिक वेद पुराण उपनिषदों से जुड़े आलेखों का प्रकाशन, दस वर्ष लेखन का अनुभव.... जो मांगा गया था आज सब था मेरे पास. ईश्वर के प्रति आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द ही कहां थे. जब तक सब कुछ मेरी मुट्ठी में नहीं आ गया, ईश्वर ने इस अवसर को बचाकर रखा था. ईश्वरीय कृपा का साक्षात दर्शन किया जब सरस्वती पूजा ८ फरवरी २०११ के दिन साक्षात्कार दिया. और यू.जी.सी. की मात्र तीन (संस्कृत विषय में) चयनित उम्मीदवारों में से एक मैं थी. ''संस्कृत साहित्य पर वैष्णव धर्म-दर्शन का प्रभाव'' यह मेरे शोध का विषय है. मेरे जीवन का वह स्वर्णिम दिन था, जिस दिन पटना विश्वविद्यालय में सीनियर रिसर्च फैलो व्याख्याता के पद पर योगदान दिया. जब स्नातकोत्तर संस्कृत की पहली कक्षा ली उस क्षण ईश्वर को असंख्य धन्यवाद दिया कि उन्होंने मुझे वहां पहुंचा दिया जहां मैं जाना चाहती थी. बार-बार मेरी अश्रुपूरित आंखों में कौंध रही थी मेरे पिता की आकृति और आशीष स्वरूप केवल मेरे लिए लिखी गयी उनकी एक कविता की कुछ पंक्तियां—

''साधना के कठिन क्षण में
वेदनाओं को वहन कर,
ताप-तप में मल जलाकर
स्वर्ण सा तपकर, निखरकर,
संभावनाओं के गगन में
चांद सा चमका करो तुम ।।
घोर तिमिर हो, कालरात्रि हो,
दीप 'आशा' का जलाकर,
'प्रेरणा' का बीज उर्वर
मन की मिट्टी में वपन कर,
जीवन के उपवन में खिलकर
सुमन सा महका करो तुम ।।
क्या नहीं कर सकता कोई,
मन में जब हिम्मत भरी हो
जग को जीतूं भावना यह,
उसकी मुट्ठी में धरी हो
ले के ये विश्वास मन में,

लघुकथा

हम मीडिया वाले

आनंद बिल्थरे

पानी ने सब कुछ लील लिया था. गांवों की हालत तो और भी बदतर थी. न कोई नाव, न हेलीकॉप्टर, न सहायता. चारों ओर सिर्फ़ पानी ही पानी. लोग पेड़ों पर भूखे प्यासे, चार दिनों से लटके थे.

अचानक एक नाव, उनकी ओर आती दिखायी दी. लोगों की आंखों में, ज़िंदगी उतर आयी. वे बची खुची शक्ति बटोरकर, हर्षातिरेक से, चिल्लाने लगे.

– आप कबसे यहां लटके हैं?

- चार दिन हो गये. हमें बचाइए. कुछ खाने को दीजिए. पानी दीजिए.

– आप इन पेड़ों पर लटके, कैसा महसूस कर रहे हैं?

- क्या आपको नहीं लगता कि शासन को आप तक राहत पहुंचानी चाहिए?

– आप, स्त्री पुरुष, रात में, पेड़ पर, इकट्ठे कैसे सो लेते हैं?

– क्या आपको अपने रिश्तेदार, परिचित या सरकार तक कोई संदेशा भिजवाना है? कोई नंबर हो तो बताइए?

- तुम हमें बचाने आये हो या ज़िरह करने?

- अरे भाई, हम मीडिया वाले हैं. आपकी बात सरकार तक पहुंचाने आये हैं.

- ऐसी तैसी तुम्हारी और तुम्हारी सरकार की.

- ग्रामीणों के हाथ जो था, वे उसे ही, उन पर ताबड़–तोड़ फेंकने लगे. नाव, डगमगाने लगी. कैमरे, पानी में डूब गये. उन्होंने किसी तरह नाव मोड़ी और डूबते सूरज के साथ, गहराते अंधकार में लोप हो गये.

प्रेमनगर, बालाघाट (म. प्र.) - ४८१००१

अग्नि सा दहका करो तुम।
संभावनाओं के गगन में
चांद सा चमका करो तुम ।।''

यह कविता पिता की नश्वर देहमुक्ति के बाद फ्रेम करा कर अपने सृजनकक्ष में लगा दी है. इसके शब्दों में मानो मेरे पिता स्वयं मुखर हो उठते हैं.

आज जीवन के उस मोड़ पर खड़ी हूं जहां से सभावनाओं की कई पगडंडियां फूटती हैं. अभी बहुत कुछ करना है अपने परिवार के लिए, साहित्य और शोध के लिए, ''गाथाएं कभी ख़त्म नहीं होतीं'' शीर्षक उपन्यास प्रारंभ किया ही था कि पटना विश्वविद्यालय चली आयी. लगा शोधकार्य में डूबकर शायद लेखन को समय नहीं दे पाऊंगी... लेकिन पुन: ईश्वरीय संकेत के रूप में अरविंद जी का पत्र मिला, दूरभाष पर भी 'आमने/सामने' में आत्मरचना प्रेषित करने पर बात हुई और मैंने तीन महीने के बाद पुन: लेखन-सृजन से स्वयं को जुड़ा हुआ पाया. ये जुड़ाव जो अरविंद जी के पत्र से प्रारंभ हुआ... ईश्वर करे आजीवन बस लिखती रहूं.... पढ़ती रहूं.... विष्णुनाम स्मरण करती रहूं और .... पढ़ाती रहूं. और जब कभी किसी कमज़ोर क्षण में विचलित और दु:खी रहूं तो पिता का आशीष पुन: जागृति और सकारात्मक ईश्वरीय भावों के रूप में अंतर्मन में गूंज उठे,

''संभावनाओं के गगन में चांद सा चमका करो तुम ''

अंत में बस इतना ही... जो मन में आया शब्दों में ढाल दिया... पहली बार अंतर्मन को काग़ज़ पर उतार दिया.... पाठकों की प्रतिक्रिया साक्षात, ईश्वरीय आदेश और आशीष स्वरूप होंगे मेरे लिए.

द्वारा विभागाध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
पटना विश्वविद्यालय,
पटना-८०००००५,
मो. ९४३०९२७४१६/८४०९१०२१७९

सागर/सीपी

'काल के प्रवाह में उत्कृष्ट लेखन ही टिकता है.'

– डॉ. इला प्रसाद

(अमरीका की कवयित्री और कथाकार डॉ. इला प्रसाद से सुश्री रचना श्रीवास्तव की 'कथाबिंब' के लिए बातचीत.)

◆ **आपकी साहित्यिक यात्रा कब और कैसे प्रारंभ हुई ?**

दसवीं कक्षा में थी, जब पहली कविता लिखी. उर्स लाइन कॉन्वेट, रांची की छात्रा थी तब. पिताजी हम सब भाई-बहनों को हर साल, नव वर्ष पर एक-एक डायरी दिया करते थे. हम जो चाहे लिखें. किसी को दिखाने की ज़रूरत नहीं. लिखने की आदत वहीं से पड़ी.

ग्यारहवीं कक्षा में थी, जब कहानीनुमा एक रचना ''वह आ रहा है'' शीर्षक से शरद ऋतु पर लिखी थी जो बहुत समय तक कक्षा के बाहर लगे बोर्ड पर लगी रही थी और प्रशंसित हुई थी. दरअसल उसे लिखने की प्रेरणा ही वह बोर्ड था,जहां विद्यार्थियों को अपनी रचना ख़ुद लगा देने का अधिकार था.

इसके बाद संत जेवियर्स कॉलेज रांची की कॉलेज पत्रिका ''स्टूडेन्ट्स फोरम'' के लिए कविता प्रतियोगिता में भाग लिया. इंटरमीडियेट द्वितीय वर्ष में थी तब. मेरी कविता सर्वश्रेष्ठ घोषित हुई. वह कविता थी ''धूप का टुकड़ा'' जो मेरे पहले कविता संग्रह ''धूप का टुकड़ा'' की पहली कविता है. फिर पिताजी ने आकाशवाणी, रांची से संपर्क करवाया और कविताएं विभिन्न कार्यक्रमों में प्रसारित होने लगीं. लेखनी चल निकली. लेकिन तब भी, क़ायदे से कहानी लिखना बहुत देर से शुरू किया. पहली बचकानी कहानी कॉलेज पत्रिका में ही छपी थी. उसके बाद कई कहानियां लिखी गयीं, फाड़ी गयीं. कुछ, दोस्तों के पास रह गया. लेकिन तब भी कभी अपने लेखन को लेकर गंभीर नहीं रही. कभी नहीं सोचा कि लेखिका बनूंगी. लिखना मेरे लिए मुक्त होना था. मैं अस्वस्थ रहती थी. बहुत अंतर्मुखी थी, जो कुछ मन में घुमड़ता उसे लिख लेती थी. आकाशवाणी और कॉलेज पत्रिका से आगे जाऊं, नहीं सोचती थी. विज्ञान की छात्रा थी, करियर उसी में दिखाई देता था.

आई. आई. टी. से लौट कर घर पर थी, जब प्रियदर्शन (चर्चित लेखक और पत्रकार) मिलने आये और उनके आई. आई. टी. को लेकर पूछे गये कुछ सवालों के जवाब में मैंने उन्हें अपनी कहानी थमा दी. उन्होंने पढ़ा और घर पर आकर कह गये कि मैं वह कहानी आपको नही लौटाने वाला. वह कहानी ''इस कहानी का अंत नहीं'' जनसत्ता में (२००२) छपी. उसका श्रेय प्रियदर्शन को जाता है. उसके बाद इतना प्रोत्साहन मिला कि लेखन को गंभीरता से लेना सीख लिया. अमेरिका आने के बाद लेखन ने गति पकड़ ली.

◆ **बिना परिवार के सहयोग के कोई भी साहित्य की सेवा नहीं कर सकता, आप अपने परिवार के बारे में कुछ कहेंगी?**

मैं इसे आंशिक सत्य कहूंगी. परिवार का सहयोग न मिलने पर भी रचनाकार सृजनरत हो सकता है क्योंकि वह उसकी आंतरिक विवशता है. वह उसके लिए अभिव्यक्ति का माध्यम है और अपने को अभिव्यक्त किये बिना वह जी नहीं सकता, न ही किसी और तरीक़े से अपने को अभिव्यक्त कर सकता है.

हां, मेरा सच यह ज़रूर है कि मुझे परिवार का सहयोग मिला है. मात्र सहयोग ही नहीं प्रोत्साहन भी. विवाह से पहले पिता का और उनके लेखक मित्रों का, विवाह के बाद अमेरिका आने पर पति नरेन का. तब तक अपने लेखन के प्रति गंभीर हो गयी थी. नरेन पूर्ण सहयोगात्मक प्रवृत्ति के हैं. कंप्यूटर पर फॉन्ट डाउन लोड करने से लेकर मेरी चिट्ठियां डाक में डालने तक का सहयोग. यदि मैं लिख रही हूं तो भोजन के लिए उन्होंने प्रतीक्षा भी की है. आज भी वैसे ही हैं. इसलिए आज भी लिख रही हूं. हालांकि मेरा लिखा वे कभी नहीं पढ़ते. उनकी हिंदी अच्छी नहीं है.

◆ आप किसको अपना प्रेरणा स्रोत मानती हैं?

सबसे पहले पिता जी और उसके बाद वह परिवेश जिसमें मैं पली-बढ़ी. घर का परिवेश पूर्णत: साहित्यिक था. कामिल बुल्के के हम बहुत क़रीब रहे. रांची में तब साहित्यिक गतिविधियां भी बहुत थीं. पिताजी इन सबसे जुड़े हुए थे. स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर के साहित्यकारों का आना-जाना लगा रहता. घर पर एक पूरा पुस्तकालय था. पढ़ाई में अच्छी रही हमेशा. बिना विशेष प्रयत्न के कक्षा में प्रथम आती इसलिए दूसरी पुस्तकें पढ़ने की छूट थी. ख़ूब किताबें पढ़ती. साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान सब कुछ. जो मिल जाता पढ़ डालती. धार्मिक पुस्तकें भी. लेकिन मैंने महाभारत पहले पढ़ा - रामायण और रामचरितमानस बाद में. महाभारत मुझे एक संपूर्ण ग्रंथ लगता है. जीवन का कोई पक्ष अछूता नहीं है महाभारत में.

बाबा बुल्के का पुस्तकालय साहित्य-मंथन का दूसरा स्रोत रहा. मैंने बेहिसाब पढ़ा - भारत की तमाम भाषाओं का हिंदी में अनूदित साहित्य और उसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी और हिंदी में अनूदित विदेशी साहित्य भी. इन सबका मेरे व्यक्तित्व निर्माण में हाथ रहा है. लेखन की प्रेरणा भी वहीं से मिली.

◆ कहते हैं, साहित्य समाज का दर्पण है. क्या आज के साहित्य में समाज का सही चित्रण हो रहा है?

समाज का सही चित्रण नहीं हो रहा, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता. लेखक वही लिख रहा है जो वह अपने चारों ओर देख रहा है. हां, ऐसा लेखन बहुत कम है जो समाज को दिशा दे सके.

◆ आज के साहित्य में अश्लीलता परोसी जा रही है और उस फूहड़ लेखन की चर्चा भी बहुत हो रही है आप क्या कहेंगी?

चर्चा में आने के लिए यह सबसे आसान तरीक़ा है. किंतु वह चर्चा आपको अधिक दूर तक नहीं ले जा सकती. काल के प्रवाह में उत्कृष्ठ लेखन ही टिकता है.

◆ आज हिंदी की अनेक वेब पत्रिकाएं कार्यरत हैं. कुछ ब्लॉग भी केवल साहित्य केंद्रित हैं. क्या आप इससे छपे साहित्य के लिए ख़तरा महसूस करती हैं?

बिल्कुल नहीं. ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं. छपे साहित्य का स्थान तो कंप्यूटर ले ही नहीं सकता क्योंकि कंप्यूटर पर बैठकर पढ़ने की तुलना में किताब का हाथ में होना और कहीं भी, कैसे भी बैठ कर पढ़ सकने की स्वतंत्रता उसे अधिक काम्य बनाती है. वहीं दूसरी ओर, नेट के माध्यम से हम वह सारा साहित्य एक स्थान पर पा सकने में समर्थ हो गये हैं, जो बहुधा अनुपलब्धता की श्रेणी में आता है. अपने को अभिव्यक्त करना, प्रतिक्रिया देना भी अधिक आसान हो गया है.

◆ हिंदी साहित्य में दलित और नारी विमर्श जैसी चर्चा है और कहा जा रहा है दलित साहित्य वही है जो दलितों द्वारा लिखा जा रहा है इस विषय में आपके क्या विचार हैं?

साहित्य को ख़ानों में बांट कर देखने की परंपरा अस्सी के दशक से शुरू हुई. इससे पहले नारी विमर्श जैसे शब्द हिंदी साहित्य में अनुपस्थित थे. उस वक़्त भी स्त्रियां लिख रही थीं और उससे पहले भी. स्त्री मनोभावों का चित्रण साहित्य में स्त्रियां भी कर रही थीं और कुछ पुरुष लेखक भी, समान कुशलता से. इसी तरह दलित विमर्श है. दलित पर प्रेमचंद ने काफ़ी लिखा है. ''ठाकुर का कुआं'' क्या भूलने लायक़ कहानी है. यह मैं मानती हूं कि जो भुक्त भोगी है, वह जब अपनी पीड़ा को स्वर देता है तो वह अधिक प्रामाणिक होता है किंतु लेखन कला को हस्तगत करने के लिए अतिरिक्त संवेदनशीलता एवं अभिव्यक्त करने की क्षमता भी चाहिए. बहुत संभव है कि दलितों की कहानी कोई ग़ैर दलित बेहतर तरीक़े से लिख जाये. तो उसे मात्र इसलिए नकारा नहीं जाना चाहिए कि वह एक ग़ैर दलित की क़लम से निकली हुई कहानी है.

◆ हिंदी में मुख्यधारा की बात प्राय: की जाती है. आप इससे क्या अभिप्राय लेती हैं? इस दृष्टि से प्रवासी साहित्य पर अपने विचार बतायेंगी?

रचना जी, प्रवासी शब्द का संबंध भूगोल से है, भाषा से नहीं. हम जिस भाषा में लिखते हैं उस भाषा के लेखक हैं और उस भाषा में रचित साहित्य उस भाषा का है. हम हिंदी के लेखक हैं और हमारा लिखा सब कुछ हिंदी का

साहित्य है. व्यक्ति प्रवासी होता है, भाषा, संस्कृति और साहित्य प्रवासी नहीं होते.

इस विषय पर अपने विचार मैं जनसत्ता में ''दूर देश के हिंदी लेखक'' आलेख में विस्तार से अभिव्यक्त कर चुकी हूं. प्रवासी लेखन और साहित्य शब्दों का प्रथम प्रयोग प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर किया गया था जो विदेशों में आये भारतीय या भारतीय मूल के साहित्यकारों की विशिष्ट पहचान का द्योतक था. जिसके कारण व्यापारिक, व्यावसायिक और राजनैतिक थे. बाद में यह शब्द रूढ़ अर्थ ग्रहण करता गया और प्रवासी लेखन को वर्गीकृत कर उसे, दोयम दर्जे का साहित्य क़रार दे कर, हाशिये पर डालने की राजनीति शुरू हो गयी. एक आंकड़े के अनुसार भारत में ३०० के क़रीब हिंदी की पत्र-पत्रिकाएं हैं, हज़ारों की संख्या में रचनाकार. उनमें सशक्त लेखन करने वालों की संख्या बहुत बड़ी नहीं है लेकिन वे सब हिंदी के लेखक हैं. उन्हें कोई मुख्यधारा से अलग नहीं मानता. फिर प्रवासी लेखन के लिए यह मापदंड क्यों लागू नहीं होता. वह लेखन हिंदी साहित्य के अलग ख़ाने में क्यों है, यह सोचने की बात है. किसी लेखक के लेखन की पहचान उसकी भाषा है. जिस भाषा में वह रचता है उस भाषा का लेखक, चाहे वह दुनिया के किसी कोने में बैठा हो. नहीं भूलना चाहिए कि अंग्रेज़ी एवं दुनिया की तमाम अन्य भाषाओं का सच यही है. यही सच प्रवासी लेखन और साहित्य का भी है. किंतु ये विशेषण जब भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो रहे हों, उनका उपयोग निहित स्वार्थों के लिए अपने हक़ में किया जा रहा हो तो ज़रूरी है कि उन्हें या तो उसी रूप में पुनर्जीवित किया जाये, पारिभाषित किया जाये या फिर उनका उपयोग न किया जाये. वर्तमान संदर्भों में मुझे दूसरा विकल्प ही सही जान पड़ता है.

◆ आपने 'शोध-दिशा' पत्रिका के कुछ अंकों का संपादन भी किया है. क्या वे अंक भी किसी भी प्रवासी शब्द या प्रवासी रचनाकारों के नाम पर छिड़ी बहस में कोई सवाल खड़ा करते हैं?

मैंने अपने संपादकीय में ''प्रवासी साहित्य'' शब्द के औचित्य पर पहली बार प्रश्न उठाया था. उसके बाद इस विषय पर साहित्यिक ब्लॉगों- ''रचना-समय'', ''हिंदी-भारत'' आदि पर कई चर्चाएं हुईं जिनमें कई देशों के रचनाकारों ने भाग लिया और मेरा समर्थन किया.

◆ क्या आपको लगता है कि लेखकों/कवियों की संख्या तो बढ़ी है पर साहित्यिक लेखन में कमी आयी है?

ऐसा तो नहीं है. बल्कि अब तो हिंदी साहित्य का क्षेत्र देश की सीमा लांघ चुका है. बहुत सारा उत्कृष्ट लेखन भारत के बाहर के देशों से भी आ रहा है. हिंदी का कोष तो समृद्ध ही हो रहा है. हां, यदि संख्या की दृष्टि से देखें तो उत्कृष्ट, कालजयी लेखन हमेशा कम होता है.

◆ कहा जाता है कि हिंदी में पाठकों की संख्या में कमी आयी है. क्या यह सच है और यदि है तो इसके मूल में आप किन कारणों को देखती हैं?

भारत सरकार की सरकारी ख़रीद योजनाओं ने बहुत अहित किया है. प्रकाशक को अब इस बात से कोई ख़ास मतलब नहीं कि किताब आम पाठक तक पहुंचती है या नहीं. उसे उसके पैसे वसूल हो जाते हैं. मुनाफ़ा हो जाता है. अब किताबें छपती हैं, किंतु बाज़ार में नज़र नहीं आतीं. प्रकाशक और सरकार के समीकरण कुछ ऐसे हैं कि लेखक क्या, पाठक के लिए भी उसमें जगह नहीं है.

दूसरी वजह आज की शिक्षा व्यवस्था और परिवारों का वातावरण है जो अंग्रेज़ी की ओर उन्मुख है. वह हिंदी साहित्य को महत्त्व नहीं देता. पढ़ने का संस्कार घर से मिलता है. वह आम घरों में अनुपस्थित है. पश्चिमी देशों में स्कूलों में ही बच्चों को कहानियां पढ़ने को प्रोत्साहित किया जाता है. बहुत ही अच्छा पुस्तकालय होता है, हर स्कूल का. फलत: आगे चल कर वे साहित्य में रुचि रखने लगते हैं. हमारे देश में अधिकांशत: ऐसा कुछ नहीं है, किंतु उसकी आवश्यकता है.

◆ हिंदी साहित्य में राजनीति की बात प्राय: की जाती है, आपके विचार जानना चाहूंगी?

राजनीति जीवन के हर क्षेत्र में है तो साहित्य जगत कैसे अछूता रह सकता है, किंतु तब भी अच्छे लेखन का कोई विकल्प नहीं है.

◆ कमलेश्वर जी ने एक साक्षात्कार में कहा था कि ''हिंदी में आलोचना है कहां?'' उनके कहे से आप कितना सहमत हैं?

कहा तो सही था, हिंदी जगत की राजनीति स्वस्थ

आलोचना के लिए जगह ही नहीं छोड़ती. किंतु तब भी कुछ अपवाद मिलेंगे.

◆ **कहते हैं कि समीक्षा की स्थिति आज बेहद दयनीय है. गुटबंदी का बोल-बोला है ऐसी स्थिति में जेनुइन पुस्तक के बजाय उच्छिष्ट साहित्य अधिक चर्चा पा लेता है और पाठकों को जैसा बताया जाता है वे उतना ही जान पाते हैं – इससे कैसे उबरा जा सकता है?**

एकांत श्रीवास्तव के संपादकत्व में 'वागर्थ' पत्रिका ने कुछ दो-तीन साल पहले पाठकों को आमंत्रित किया था कि वे समीक्षा लिखें - अपनी पसंद की पुस्तक की. वह प्रयोग काफ़ी अच्छा था. आंखें खोलने वाला भी. मुझे लगता है कि ये प्रयोग होते रहने चाहिए. पाठक की राय और सोच को समझने का मौक़ा तो मिलता ही है, उसके माध्यम से अन्य पाठक भी साहित्य जगत की राजनीति को समझ पाते हैं. यह भी समझ में आता है कि कई बार पाठक का बौद्धिक स्तर काफ़ी अच्छा होता है और आप उसे बेवक़ूफ नहीं बना सकते.

◆ **भारत के राजनीतिज्ञ देश को तीसरी भावी महाशक्ति के रूप में प्रस्तुत करते रहते हैं, लेकिन वहां हो रहे एक के बाद एक घोटालों से क्या ऐसा हो पाना संभव हो पायेगा? कॉमनवेल्थ गेम्स घोटाला, आदर्श हॉउसिंग सोसाइटी घोटाला, २-जी स्पेक्ट्रम घोटाला और हाल में बैंक लोन घोटाला और कितने ही ऐसे घोटाले होंगे जो प्रकट नहीं हो पाये – और इन सबमें ब्यूरोक्रेट्स और राजनेता शामिल हैं देश के बारे में आप क्या राय रखती हैं?**

भारत के तीसरी महाशक्ति होने का जहां तक प्रश्न है, वह काग़ज़ों पर तो बन ही गया है. सच्चाई यह है कि भारत में अब लोकतंत्र नहीं, लोकतंत्र की आड़ में पूंजीवाद, आतंकवाद और राजतंत्र है. ऐसी व्यवस्था में आम आदमी का जो हश्र होता है, वह हम देख रहे हैं.

यह स्थिति जो आज है उसकी ज़मीन ७०-८० के दशक से बन रही थी. रूस के पतन के बाद इस राजनीति का चेहरा अधिक स्पष्ट हुआ. आज की स्थिति को विस्फोटक कहा जा सकता है. राजनीति का सबसे भयानक स्वरूप हमारे सामने है. कहते हैं नेता परिस्थितियों की

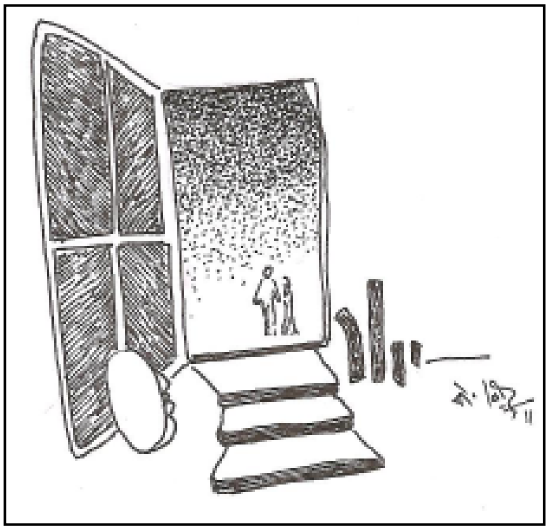

उपज होता है. लोकपाल बिल के माध्यम से अन्ना हज़ारे, बाबा रामदेव, किरन बेदी आदि कई लोग सामने आये हैं. यह वस्तुत: सरकार पर दबाव बनाने वाला समूह है जो जनता में अपनी अच्छी पकड़ दर्शा रहा है. किंतु समस्या यह है कि भारत का संविधान ऐसा है कि साधनहीन व्यक्ति के लिए अन्याय/भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ना संभव ही नहीं. भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले या लड़ने वाले मार डाले जाते हैं. कोई सुरक्षा है ही नहीं. उस समस्या का समाधान मिले बिना लोकपाल बिल भी व्यर्थ जायेगा.

◆ **भारत की पत्रिकाओं में भारत से बाहर रह रहे रचनाकारों का छपना कितना आवश्यक है? क्या आपको लगता है कि भारत की पत्रिकाओं में छपे बिना हमारी पहचान बन ही नहीं सकती?**

भारत की पत्रिकाओं में छपना एक बृहद पाठक वर्ग तक पहुंचना है. उसकी स्वीकृति, समालोचना पाना है, लेकिन पहचान तो बन जाती है, वहां छपे बिना भी. वेब-पत्रिकाएं हैं. अमेरिका, कनाडा, इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया, यू ए ई - कई देशों में अब हिंदी की पत्रिकाएं हैं. इनमें से कई भारत भी पहुंचती हैं. लोग आपको पढ़ते हैं और अगर आप अच्छा लिख रहे हैं तो चर्चा भी होती है. यहां पहचान बनने के बाद ही मैं वहां पहुंची हूं, छपी हूं, इसलिए मुझे ऐसा नहीं लगता.

◆ **ब्रिटेन के हिंदी साहित्य की तुलना में अमेरिका का हिंदी साहित्य बहुत समय तक हाशिये पर रहा**

क्या वजहें हो सकती हैं?

एक तो भौगोलिक दूरी और दूसरी आत्मकेंद्रित मानसिकता. अंदर ही अंदर चल रही राजनीति भी. लेकिन इन सबके बावजूद अब अमेरिका का हिंदी साहित्य भारत में पहचाना जा रहा है. यहां के कई रचनाकार भारत की पत्रिकाओं में दिखाई पड़ रहे हैं.

◆ **आप उन छोटी-छोटी घटनाओं/चीज़ों को कहानी का विषय बना लेती हैं जिन पर आम तौर पर लोगों की दृष्टि नहीं जाती. ''मेज़'' कहानी का उदाहरण लिया जा सकता है. कई तरह की अर्थ छायाएं हैं इसमें. आप सोच समझ कर विषय चुनती हैं या कि यह सहज स्फूर्त होता है?**

विषय का चुनाव मैं शायद ही करती हूं. यह स्वत: स्फूर्त ही होता है. कोई घटना, कोई व्यक्ति कहानी की प्रेरणा बन जाता है और कहानी बन जाती है. कुछ अपवाद है - जैसे 'सेल', 'बैसाखियां' और 'चुनाव' आदि कहानियां. 'सेल' कहानी का उद्देश्य अमेरिका में होनेवाली सेल और उसका जनमानस पर प्रभाव दिखलाना था. बाज़ारवाद के उदाहरण, परिणाम दिखलाने थे. उस कहानी के मुख्य पात्र पूरी तरह काल्पनिक हैं. सेन्ट पैट्रिक डे की परेड कई बार देखी किंतु उस बार देखने मैं इसलिए गयी कि मुझे उस पर एक कहानी लिखने की इच्छा थी. यह संयोग था कि मेरी बगल में एक छोटी लड़की बैसाखियों पर खड़ी थी और मेरा ध्यान उस पर ज़्यादा और परेड पर कम रहा. ''चुनाव'' भी ऐसी ही कहानी है. किंतु ''मेज़'' या अन्य कहानियां नहीं.

◆ **यदि आपके लेखन को नारीवादी लेखन और स्त्री विमर्श के अंतर्गत रखा जाये तो आपकी प्रतिक्रिया क्या होगी?**

मुझे इस तरह के वर्गीकरण सख़्त नापसंद हैं. साहित्य को ख़ानों में बांट कर देखना उसका महत्त्व कम करना है.

◆ **आपने विश्व के किन-किन साहित्यकारों को पढ़ा है और किसने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया है?**

सबसे पहले तो हिंदी के अतिरिक्त भारत की सभी भाषाओं का अनूदित साहित्य. उन लेखकों का अधिक जिन्हें साहित्य अकादमी या ज्ञानपीठ से नवाज़ा गया है. ऐसा इसलिए कि उनकी ही किताबों का अनुवाद आम तौर पर उपलब्ध होता है.

रूसी भाषा का हिंदी और अंग्रेज़ी में अनूदित साहित्य सबसे ज़्यादा पढ़ा. इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी, अमेरिकी, आस्ट्रेलियाई, फ्रेंच, जर्मन, स्पैनिश जो कुछ भी उपलब्ध रहा, पढ़ती रही.

पुश्किन, गोगोल, चेखव, गोर्की, तोलस्तोय, सोल्झेनित्सिन, तुर्गनेव, शोलोखोव, मायकोवस्की, पाब्लो नेरुदा, विक्टर ह्यूगो, थॉमस हार्डी, अगाथा क्रिस्टी, जेन आस्टिन, आस्कर वाइल्ड, पर्ल बक, मार्गरेट मिशेल, काफ़्का, कामू, चार्ल्स डिकेन्स, जैक लंडन, बाब डोल, जेन फाले, ला विरिओल स्पेन्सर, डिक फ्रान्सिस, जेम्स ट्वाइनिंग, निकोलस स्पार्क्स, अनीता देसाई, झुंपा लाहिड़ी, अरुंधति राय, सोफ़ी किन्सेला, ग्रेगरी पैक राबर्ट... कई नाम हैं.

ह्यूगो का उपन्यास ''लेस मिजरेबल'' जिसका हिंदी अनुवाद ''अभागे'' के नाम से पढ़ा था. आज तक नहीं भूला. इसी तरह आस्कर वाइल्ड की कहानी ''अदृश्य घाव'' नहीं भूलती. पर्ल बक का लेखन भी बहुत अच्छा लगता है. ''गॉन विद द विंड'' मार्गरेट मिशेल को उसके पाठकों के मन में ज़िंदा रखने के लिए काफ़ी है. इस कड़ी में नवीनतम है- आस्ट्रेलियाई उपन्यासकार ग्रेगरी पैक रॉबर्ट का ''शांताराम'' जिसे शायद ही भूल सकूं. मुंबई को आधार बनाकर लिखा गया यह आत्मकथात्मक उपन्यास हर भारतीय, ख़ास कर मुंबईवासी को पढ़ना चाहिए.

मैंने यहां पर हिंदी के रचनाकारों का उल्लेख नहीं किया. प्रसंगवश बतला दूं कि हिंदी के तमाम छोटे-बड़े रचनाकारों को - जब तक भारत में थी - पढ़ती रही. प्रेमचंद आज भी मुझे महान लेखक लगते हैं. देवकी नंदन खत्री का चंद्रकांता संतति उल्लेखनीय लगता है. ''कनुप्रिया'' बार-बार पढ़ना अच्छा लगता है और दुष्यंत, सूर्यभानु गुप्त आदि की शायरी भी. शिवप्रसाद सिंह का ''नीला चांद'' मेरा प्रिय उपन्यास रहा है. मन्नू भंडारी, राजी सेठ, सूर्यबाला, मालती जोशी, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव.... सूची बहुत लंबी है. किंतु इन सबसे प्रभावित हुई हूं. अभी भी समकालीन कथाकारों/कवियों को वेब पर पढ़ती रहती हूं. वेब पर साहित्यिक सामग्री उपलब्ध कराने वालों की कृतज्ञ हूं.

लघुकथा

मुआवजा

✍ ज्ञानदेव मुकेश

एक बार एक गांव में बाढ़ आयी. उस गांव के एक परिवार के बूढ़े पिता की बाढ़ में बह जाने से मृत्यु हो गयी. बाढ़ समाप्त होने के बाद सरकार की ओर से मुआवजा दिये जाने की घोषणा हुई. उस बूढ़े की लाचार पत्नी और पुत्र मुआवजा लेने के लिए सरकारी दफ़्तर के बाहर बैठे थे. चिलिचिलाती धूप थी. वे बरगद की पेड़ की छाया में पालथी लगाये हुए थे और अपनी बारी के आने का इंतज़ार कर रहे थे.

बरगद का पेड़ काफ़ी वर्षों का हो चुका था. उसके तने में कई दरारें तिर आयी थीं. डालियां लचर-लचर हो गयी थीं. वन विभाग को उस मरणासन्न पेड़ की कोई ख़बर नहीं थी. अचानक तेज़ हवाएं चलने लगीं. डालियां पोलियोग्रस्त पांव की तरह हवा में लहराने लगीं. तभी एक बड़ी डाली टूट गयी और दुर्योगवश बूढ़े की पत्नी पर गिर गयी. बूढ़ी औरत चीखने-चिल्लाने लगी. लोग मदद के लिए भागे-भागे आये. मगर तब तक देर हो चुकी थी. बूढ़ी के प्राण पखेरू उड़ गये थे.

एक सप्ताह बाद सरकारी अधिकारी बूढ़ी औरत के घर पर उसके पुत्र के सामने खड़े थे. वे पुत्र के आंसू पोंछते हुए उसे ढांढस दे रहे थे. उन्होंने कहा, ''बेटा, तुम इतना क्यों घबराते हो? अब तो तुम्हें एक नहीं, दो-दो मुआवजे मिलेंगे.''

बेटे ने हैरान होते हुए पूछा, ''दो-दो मुआवजे?''

अधिकारी ने कहा, ''हां, एक पिता की मृत्यु का, जो तुम्हारी मां ले न सकी और दूसरा, तुम्हारी मां की मृत्यु का!''

**श्री आई. एन. मल्लिक का मकान, स्टेट बैंक के पास,
शिवाजी कॉलोनी, पूर्णिया-८५४३०१.**

◆ आपने कभी सोचा कि आप अपनी आत्मकथा लिखेंगी? साहित्य में आत्मकथा सर्वाधिक अधिक पढ़ी जाती है या उपन्यास?

कभी नहीं. मुझे नहीं लगता कि मैं कभी लिखना चाहूंगी. हां, आत्मकथा पढ़ने वालों में मैं भी हूं. मुझे यह प्रश्न बचपन से आंदोलित करता रहा कि आख़िर वे कौन सी वजहें हैं, व्यक्तिगत गुण-अवगुण हैं जो व्यक्ति को विशिष्ट बनाते हैं. सामान्य से ऊपर उठा देते हैं. आत्मकथा के माध्यम से किसी के निजी जीवन को जानने की इच्छा के पीछे भी यही मनोविज्ञान काम करता रहा और मैंने आत्मकथाएं ख़ूब पढ़ीं. लेकिन उपन्यास भी कम नहीं पढ़े हैं. मुझे लगता है दोनों में अलग-अलग कारणों से पाठक की दिलचस्पी हो सकती है.

◆ और अब अंतिम प्रश्न : आजकल आप क्या लिख रही हैं?

बड़ा कठिन सवाल है. कई चीज़ें एक साथ चलती रहती हैं. संस्मरण, आलेख, कविता, संपादन - किंतु मैं अपने आपसे बेहद असंतुष्ट हूं इन दिनों कि चाह कर भी मन:स्थिति नहीं बन पा रही और मेरा पहला उपन्यास अभी तक अधूरा पड़ा है. जबकि दूसरे उपन्यास ने मन में आकार ले लिया है.

**12934 Meadow Run,
Houston, TX 77066 (USA)
e-mail : ila_prasad@yahoo.com**

अमरीका/कैनाडा से सीधा संपर्क

भारतीय समयानुसार, सुबह ७ से १० बजे तक और शाम को ५ से ११ बजे तक अमरीका तथा कैनाडा के लेखक व पाठक, १-२०५-२९४-८७३० (मैज़िक जैक फ़ोन सुविधा) पर सीधा संपर्क कर सकते हैं. - सं.

पं. सत्यदेव दुबे : भारतीय रंगमंच का महानायक

सविता बजाज

(साहित्य और फ़िल्म का चोली दामन का साथ है. हमारे विशेष अनुरोध पर जानी मानी फ़िल्म, टी.वी., मंच कलाकारा व पत्रकार सुश्री सविता बजाज 'कथाबिंब' के लिए चलचित्र जगत से संबद्ध साहित्यकारों के साथ बिताये क्षणों को संस्मरण के रूप में प्रस्तुत कर रही हैं. अगले अंकों में पढ़िए गिरीश कर्नाड, नक़्श लायलपुरी, चाचा चौधरी आदि के बारे में.)

'ऐरी मैं तो, कला की दीवानी, मेरा, दर्द न जाने कोय, बचपन से मैं कला की दीवानी, ख़ून में कला की घुट्टी. नाटक करती, डांस, गाना, पेंटिंग, लेखन सब पढ़ाई के साथ-साथ मेरी तरह जवान हुए. पूरे घर में दूर-दूर तक कला का कोई साथी नहीं. शायद मेरे पिछले जन्मों का फल था कि मैं एक कलाकार बनी इस जन्म में. बचपन का प्यार अमीरी-ग़रीबी की दीवार नहीं लांघ पाया तो बस पढ़ाई की. प्री-मेडिकल तक ही कर पायी. क्योंकि मन अगर कहीं लगता था, रमता तो वह बस मेरा कला का संसार था. दिल्ली के एन.एस.डी. में मेरी क़िस्मत ने वज़ीफ़ा दिलाया तो मेरे लिए कला के सारे दरवाज़े मानो खुल गये. यहीं पर बड़े-बड़े लेखकों से दोस्ती हुई — जैसे अमृता प्रीतम. बड़े-बड़े नामी–गिरामी रंगमंच और फ़िल्मों से जुड़े लेक्चर देने आते और अभिनय लेखन के गुर सिखाते. उन सुविख्यात हस्तियों में एक ग़ज़ब का बुद्धिजीवी एक्टर, डायरेक्टर, लेखक भी था. मंझला कद, कांधे पर खादी का झोला, सादा कुर्ता, पाजामा और सर पर घने काले स्याह बाल. हंसता तो लगता कहीं स्याह बादल छंट गये हों. इस महान हस्ती का नाम था पं. सत्यदेव दुबे. पंडित जी मुझे अच्छे लगे. लेकिन कभी हिम्मत ही नहीं हुई कि इनसे बात करूं क्योंकि सत्यदेव उन दिनों अपने अड़ियल, अक्खड़ और घमंडी स्वभाव की वजह से मशहूर था. रंगमंच की दुनिया में तहलका मचाता था. मैं सोचती फ़िल्मों में तो मुझे एक न एक दिन जाना ही है. वहां बंबई में इनके साथ नाटक भी करूंगी.

सत्यदेव, परंपरा और आधुनिकता, कठोर अनुशासन का मानवीय चेहरा, अपनी प्रतिभा और क्षमता के बल पर आज तक बंबई के रंगमंच और फ़िल्मों की दुनिया में टिका रहा. कोई माई का लाल उससे रंगमंच की बादशाहत का ताज नहीं छीन सका. सलाम दुबे साहब! दुबे साहब ने नाटक लिखे. नाटक किये, फ़िल्में लिखीं, फ़िल्मों में अभिनय किया और जीवन की डूबी छिपी वास्तविकताओं को अपनी लेखनी से जीवंत किया. कहते हैं न जब सत्य का सूरज चमकता है तो कोई उसे अपने रंग में नहीं रंग सकता, वह निस्संग रहता है — इसी, रंगमंच के सूरज का नाम है- पंडित सत्यदेव दुबे.

बंबई आने पर मैंने सत्यदेव के साथ नाटकों में काम करने का सपना संजोये रखा लेकिन इन तक पहुंचना आसान न था. कहते हैं न नियति दुस्तर समुद्र को पार कराती है. चिरकाल के अतीत को वर्तमान से क्षण भर में जोड़ देती है जिससे जीवन की अग्रगामिनी धारा अपना पथ निर्दिष्ट करती है. मेरे जीवन में वह समय भी आया लेकिन श्याम बेनेगल की फ़िल्म निशांत से. दुबे जी ने फ़िल्म के संवाद लिखे और मंदिर के पुजारी का भी पात्र निभाया. वह समय मेरे लिए स्वर्णयुग था जहां मुझ पर कला के फूलों की बौछार हो रही थी. लेखन के नये पट खुल रहे थे, अभिनय की बारीकियों का पिटारा मेरे सामने था और संवाद अदायगी के नये-नये आयाम मेरे दायें-बायें बिखरे पड़े थे. मेरी आत्मा को आलौकिक आनंद मिल रहा था. पंडित जी के कोमल मन को मैं जान रही थी, पढ़ रही थी. कितना स्नेह भरा पड़ा था वहां. इंसानियत का लबालब ख़ज़ाना था वह मन. पुरानी बातें याद कर हंसी आती कि

दुबे साहब ने अपने चारों तरफ़ कैसी दीवार बना ली थी. शायद वह किसी को अपने क़रीब ही नहीं आने देना चाहते थे. कौन जाने! शूटिंग के साथ-साथ मैं इनके कोमल मन को भी जान रही थी. शूटिंग हैदराबाद में ही थी, एक हवेली में और ठहरे थे होटल गोकुल में. खाना खाने होटल के हाल में ही जाना होता तो मैं दुबे साहब के साथ ख़ूब बतियाती. कहते हैं मनुष्य का हृदय शीतकाल की उस नदी समान जब हो जाता है, जिसके ऊपर का कुछ जल बर्फ की कठोरता धारण कर लेता है, तब उसके गहन तल में प्रवेश करने का कोई उपाय नहीं. मैं रंगमंच के इस महान विधाता को जान रही थी और कला के गूढ़ रहस्यों से रूबरू हो रही थी. कभी-कभी मैं कहीं खो सी जाती तो पंडित जी की आवाज़ पूरे शरीर को सत्यता और पवित्रता से भर देती. उन दिनों मेरी एक प्यारी भाभी संसार छोड़ गयी थी और उसे याद कर आंखें बहने लगतीं. सत्य जानने पर पंडित जी समझाते — आप तो थेयटर की बेजोड़ कलाकार हो. इन इमोशनों को संजो कर रखो ज़हन में, बर्बाद मत करो. कैमरे के सामने लाना. कभी-कभी ग्लूकोज़ जैसे डिब्बा मुझे भेंट कर कहते — इसे पियो. याददाश्त बढ़ेगी और सेहत भी बढ़िया रहेगी, पगली!

पंडित जी ने निशांत में मेरी ख़ूब हौसला अफ़ज़ाई की. हमेशा कैमरे के पास खड़े हो हिम्मत बढ़ाते और संवाद अदायगी पर मेहनत करवाते थे. ''पौचम्मा'' की सफल भूमिका के पीछे सत्यदेव जी का ही हाथ है और इनका अपनापन, निकटता भगवान के वरदान से कम न थी.

शशी कपूर की ''जुनून'' में हम दोबारा साथ-साथ थे. लखनऊ के अवध क्लार्क होटल में रुके थे सब लोग. 'जुनून' में मेरा पात्र बहुत छोटा था. लेकिन समय पंख लगाकर जल्द उड़ गया. इस तरह हमारा साथ सिर्फ़ और सिर्फ़ श्याम बेनेगल की फ़िल्मों तक ही सीमित रहा. मेरी दिली तमन्ना थी कि मैं आपके साथ नाटक में अभिनय करूं तो वह भी पूरी हुई. नाटक 'देवयानी का कहना है' में दुबे जी ने मेरे साथ एक पात्र भी निभाया और निर्देशन भी किया. साथी कलाकार चित्रा पालेकर थी. नाटक के बहुत सारे शो हुए. बस उसी के साथ दुबे जी के साथ मेरे स्वर्णिम युग का अंत हो गया.

दुबे साहब अपनी राह चल दिये और मैं अपनी. कभी-कभी कहीं मिलना होता भी तो आप ज़ल्दी में रहते

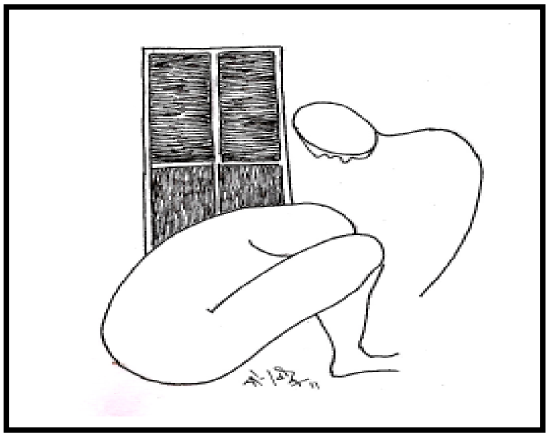

मानो बहुत कुछ पीछे छूटा जा रहा हो. जीवन की खिड़की के पट खोलना और बंद करना मनुष्य के वश में नहीं. पंडित सत्यदेव के बारे में सोचती हूं तो बड़ा सुकून मिलता है. कितने आवरण मनुष्य ओढ़ता है बंद किताब की तरह या यूं कहिए प्याज़ के छिलकों की तरह. छिलके उतारते जाओ, हर परत नयी. सत्य को पहचानते जाओ.

सत्यदेव आज भी रंगमंच की दुनिया में बिज़ी है. नाटक करता है, कलाकारों से जी तोड़ मेहनत करवाता है. घटनाएं तो घटती रहती हैं, बहारें आती हैं, जाती हैं और मेरे जीवन की डोरी भी तो काफ़ी लंबी हो चुकी है. आज के माहौल में कला के क्षेत्र में सिर्फ़ पैसे की तूती बोलती है. एम्प्लॉयमेंट एक्सचेंज बन गया है कला का क्षेत्र. लेकिन सत्यदेव दुबे सब बातों से बेख़बर अपनी रंगमंच की दुनिया में एक तपस्वी की तरह तप कर रहा है, साधन में जुटा है. शायद आने वाले रंगमंच को जीवित रखने के लिए, कौन जाने!

पो. बॉक्स-१९७४३,
जयराज नगर,
बोरिवली (प.), मुंबई-४०००९१
फ़ोन : ९२२३२०६३५६

छपते-छपते

इस अंक के छपते-छपते दुखद समाचार मिला कि लंबी बीमारी से जुझते हुए पं. सत्यदेव दुबे का निधन हो गया. रंगमंच के इस पुरोधा को हमारी श्रद्धांजलि.

- संपादक

पुस्तक समीक्षा

बूंद से समुद्र तक का सफर

✍ माधव नागदा

बूंद से समुद्र तक (ल.सं.) : **डॉ. सतीश दुबे**
प्रकाशक : साहित्य संस्थान, उत्तरांचल कॉलोनी, गाजियाबाद. **मू.** ४९५/- रु.

सतीश दुबे एक ऊर्जावान साहित्यकार हैं. उनके अब तक दो उपन्यास, पांच कहानी संग्रह, छः लघुकथा संग्रह, एक शोध ग्रंथ तथा नवसाक्षरोपयोगी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं. उनके उपन्यास 'डेरा बस्ती का सफरनामा' पर मालवी भाषा में बनी फ़िल्म पिछले दिनों काफ़ी चर्चित हुई थी. इन सबके बावजूद उनका मन लघुकथा में ज़्यादा रमता है. सन् १९७४ में उनका प्रथम लघुकथा संग्रह 'सिसकता उजास' प्रकाशित हुआ था और अब २०११ में छठा लघुकथा संग्रह 'बूंद से समुद्र तक' सामने आया है. यह बात रेखांकित करने योग्य है कि डॉ. सतीश दुबे लघुकथा लेखन को एक मिशन की तरह लेते हैं. लघुकथा को चुटकुलेबाजी और घटनाक्रम की सपाटबयानी के गुंजलक से बाहर निकालने की भरसक कोशिश करते हुए इसे विधागत सम्मान दिलाने में पिछले लगभग चालीस वर्षों से अथक रूप से प्रयासरत हैं. लघुकथा को यथार्थ की पुख़्ता ज़मीन पर खड़ा करने और आम आदमी की संवेदनात्मकता से जोड़ने के लिए जितना सतीश दुबे ने किया है वह वस्तुतः लघुकथा के इतिहास में सदैव उल्लेखनीय रहेगा. कमलेश्वर ने उनके लिए कभी ठीक ही कहा था, ''सतीश दुबे ने लघुकथा में स्थापित विकृत उच्चवर्गीय पात्रों को खारिज करते हुए इसके केंद्र में सामान्यजन की स्थापना की. इनका यह योगदान अविस्मरणीय रहेगा.''

'बूंद से समुद्र तक' पुस्तक चार खंडों में प्रस्तुत की गयी है. प्रथम खंड में विगत तीन वर्षों के दौरान रचित एक सौ चार लघुकथाएं संकलित हैं. द्वितीय खंड में उनके प्रथम लघुकथा संग्रह 'सिसकता उजास' से अट्ठारह प्रतिनिधि लघुकथाएं ली गयी हैं जबकि तृतीय खंड में सन् १९६५-६६ में प्रकाशित लघुकथा प्रारूप को तराशती बारह लघुकथाएं मील के पत्थर की तरह खड़ी हैं. चतुर्थ और अंतिम खंड में लघुकथा के विभिन्न पक्षों पर प्रश्न-संवाद सहित रचनाकार के अवदान को रेखांकित करते दस समकालीन-सृजनधर्मी साहित्यकारों के विचार और लघु आलेख सम्मिलित किये गये हैं.

कहानियां और उपन्यास लिखते रहने के बावजूद लेखक को लघुकथाएं लिखने की आवश्यकता महसूस हुई तो इसका मंतव्य यही है कि बहुत कुछ ऐसा है जो कहानी या उपन्यास विधा की पकड़ में आने से छूटा जा रहा है, कि जिसे लघुकथा के माध्यम से अधिक सघनता के साथ अभिव्यक्त किया जा सकता है.

सतीश दुबे व्यापक जीवनानुभवों के कथाकार हैं. उनके पास मानव मन में गहरे पैठने की क्षमता है. मन समुद्र की तरह है जहां कई-कई मोती बिखरे पड़े हैं. सतीश एक कुशल गोताखोर हैं. इसी का सुपरिणाम है कि उनकी लघुकथाओं में विविधता, गहरे मानवीय सरोकार तथा परिवेश के यथार्थ चित्र मिलते हैं. भय, भूख, भ्रष्टाचार, आतंक, पक्षपात में त्रस्त सामान्यजन के चेहरे एक ओर हैं तो दूसरी ओर लालपगड़ी, लालफीताशाही, सफ़ेद वस्त्रों पर काले कोट, लालबत्ती, सायरन की सुरक्षा में सिंहासन पर बैठे व्यवस्थावादी लोगों का हुजूम. इन लघुकथाओं के सत्तर के दशक से लेकर साइबर युग तक विश्वसनीय चित्र चकित कर देनेवाले हैं जो बताते हैं कि सतीश दुबे की सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों पर सूक्ष्म पकड़ है.

'शहर के बीच मौत' शहर के लोगों की संवेदनशीलता पर एक जलता हुआ प्रश्न है. जो हमें भीतर तक हिला देता है. 'रिश्ताई नेह बंध' में मदारी एक दिन किसी बात पर डांट कर बेटे और बंदर दोनों को भगा देता है. कुछ दिन पश्चात बंदर तो लौट आता है मगर बेटा नहीं. लघुकथा बताती है कि जानवर का प्यार निश्छल होता है, वह अपने भीतर किसी तरह की कुंठा नहीं पालता. 'कत्ल' और 'गुनाहगार' लघुकथाओं में लेखक ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर निरंतर हो रहे हमलों को लेकर चिंता व्यक्त की है. 'कत्ल' लघुकथा में जेहाद के नाम पर होने

वाले ख़ून-ख़राबे के विरोध में बोलने पर हसन साहब जैसे नेकदिल इंसान का न केवल कत्ल हो जाता है बल्कि हाजी साहब जैसे कट्टरपंथी इस घटना को ख़ुदा के इलहाम से हुआ मानकर ऐसे जघन्य कृत्य पर अपनी मुहर लगाते हैं. 'गुनाहगार' नामक लघुकथा में बड़े कलात्मक ढंग से अपनी बात कही गयी है. 'मीटिंग' चुटीले संवादों के माध्यम से पति के खिलंदड़ेपन की ख़बर लेती है. यहां पत्नी का बुद्धिचातुर्य और धैर्य अपील करने वाला है. इस लघुकथा में कहीं भी वर्णनात्मकता नहीं है. दरअसल संग्रह की वे तमाम रचनाएं सशक्त और पाठकों को बांधे रखने वाली हैं जहां लेखक ने संयम बरतते हुए पात्रों या स्थितियों को अपना काम करने दिया है. 'प्रपोज़' भी ऐसी ही लघुकथा है. यहां शादीशुदा साकी शेख मन बहलाव के लिए प्रियांशु को अपना मोहरा बनाती है. नारी विमर्श के इस दौर में यह लघुकथा बहुत कुछ कह जाती है. 'मां का धर्म' भी एक सशक्त रचना है.

'गुरुदक्षिणा' इंटरनेट के दुरुपयोग एवं तद्‌जनित दुष्परिणामों की कथा है. इसी तरह 'साइबर-साहित्य' लघुकथा भी नेट पर परोसी जा रही पोर्न साइटों की ओर ध्यानाकर्षित करती है जो आज घरों में घुस चुकी है और जिसे किशोरों से लेकर बड़े-बुजुर्ग तक चटखारे लेकर देखते हैं. 'पेशी' के द्वारा थाने में होने वाली कार्यवाही का कच्चा चिट्ठा खोला गया है. 'विस्थापित वीणा वादिनी' साहित्यिक संस्थाओं की अंदरूनी राजनीति की पोल खोलती एक रोचक रचना है. 'फर्ज' लघुकथा में लेखक फर्ज के आवरण में छिपी स्वार्थ की बारीक झिल्ली को पहचानने में समर्थ हुआ है तो 'राज' लघुकथा आज के लोकतंत्र का कटु यथार्थ हमारे सम्मुख परोसती है.

संग्रह की कुछ लघुकथाएं बुजुर्गों के अकेलेपन और अपनों द्वारा उपेक्षा को बड़े ही मार्मिक ढंग से उजागर करती हैं, जैसे 'थके पांवों का सफर', 'शीतल बयार', 'सान्निध्य, सुख, सुकून', 'ऊर्जा की सौगात' आदि. परंतु इन सबमें आशा और उम्मीद की एक शीतल बयार भी बहती नज़र आती है. मसलन 'ऊर्जा की सौगात' में पोता तो 'शीतल बयार' में बेटियां उम्मीद की किरण बन कर सामने आती हैं.

वस्तुत: सतीश दुबे इसी आस्था और उम्मीद के कथाकार हैं. उनकी कई लघुकथाओं में संघर्षरत पात्र मानवीय मूल्यों को बचाने की जद्दोजहद करते हैं तथा अंतिम दम तक उम्मीद और आस्था का दामन नहीं छोड़ते चाहे वह 'लास्ट लेसन' की एलिना हो, 'रत्न पारखी' के प्रो. राजीव राव हों, 'मेरे पापा' के पापा हों या फिर 'पुकार' की विधवा. 'अपने लोग', 'प्रेमब्लोग', 'चुनौती' आदि भी मानवीय संवेदनाओं की हृदयस्पर्शी रचनाएं हैं. डॉ. कमलकिशोर गोयनका ठीक ही कहते हैं — ''डॉ. दुबे की यह मनुष्यत्व के प्रति प्रतिबद्धता लघुकथाओं को महत्त्वपूर्ण बनाती है और साथ ही पाठक के संस्कारों का परिष्कार करती है.''

भाषा के मामले में भी ये लघुकथाएं बहुत समृद्ध हैं. पात्र एवं परिवेश के अनुकूल लेखक ने शब्द चयन में पूरी सावधानी बरती है. 'फाइनल आंसर', 'लास्ट लेसन' लघुकथाओं में अभिजात्यवर्गीय अंग्रेज़ीदां संवाद इन लघु-कथाओं की प्रभावशीलता बढ़ाते हैं तो 'सुहाग के निशान' जैसी लघुकथाओं में आमजन का प्रतिनिधित्व करते पात्रों का ठेठ देसी अंदाज पिछड़े तबकों के प्रति लेखक की संलग्नता का प्रतीक है. फिर भी भाषा की दृष्टि से एक बात खटकने वाली है. कई लघुकथाओं में लेखक ने लंबे-लंबे वाक्यों का प्रयोग किया है जो कि समझ से परे है. एक बानगी पेश है, ''अपने बच्चों की अब तक की जीवन यात्रा से संबंधित विभिन्न अनुभवों, प्रसंगों, उम्रानुकूल चर्चा-चुहुल, खोखले हंसी-ठट्ठों के बावजूद दिल-दिमाग के खालीपन की यथावत ऊब से निजात पाने के लिए कुर्सियां लगाकर दोनों आंगन में बैठ गये (अगला पड़ाव). इसी प्रकार 'टेकचंद उवाच' में एक ही वाक्य पांच पंक्तियों में फैला हुआ है जो कि पूरे पैराग्राफ़ के रूप में है. लघुकथा में हम लघुता पर बल देते हैं परंतु 'बूंद और समुद्र तक' में इतने लंबे वाक्यों का गठन चकित कर देनेवाला है.

पुस्तक के चौथे और अंतिम खंड में डॉ. कमल किशोर गोयनका, डॉ. श्रीराम परिहार, डा. पुरुषोत्तम दुबे, श्यामसुंदर अग्रवाल, प्रतापसिंह सोढ़ी, मधुदीप, खुदेजा जान और श्याम गोविंद के महत्त्वपूर्ण आलेख हैं जो न केवल डॉ. सतीश दुबे के व्यक्तित्व और कृतित्व पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं बल्कि लघुकथा विधा को ठीक तरह से समझने में भी सहायक हैं.

गाव पो- लाल मादड़ी,
वाया नाथ द्वारा,
जि. राजसमंद (राज.)-३१३३०१

कोमल अनुभूतियों का साक्ष्य

✍ संतोष श्रीवास्तव

पांचवा मौसम (का. सं.) : **शिल्पा सोनटक्के**
प्रकाशक : शिवानी प्रिंटर्स, ३४ न्यू माताजी बिल्डिंग, मुलुंड, मुंबई-४०००८१. **मू.** १५०/- रु.

ग़ज़ल विधा में हिंदी की शायरा बहुत कम हैं जबकि उर्दू में कविता विधा में कई कवयित्रियां हैं, यह धारणा अक़्सर फैलती सिमटती रहती है. चूंकि उर्दू का ज्ञान सीमित दायरे तक ही महिला शायर, ग़ज़लकार को है सो बात भी सही नज़र आती है.

शिल्पा सोनटक्के का ग़ज़ल संग्रह 'पांचवा मौसम' जब मैंने पढ़ा तो लगा यह नाम तेज़ी से ग़ज़ल की दुनिया में प्रवेश कर रहा है. दिल से दिल तक जाने वाली कई राहों से गुज़रकर आशा और निराशा के मुहाने जा बैठीं या किसी चकाचौंध महफ़िल के एक कोने में प्यार की ख़ामोश शमा जलाये बैठीं ये रचनाएं किसी व्यक्ति विशेष की कहानी नहीं कहतीं बल्कि उन भावनाओं को अभिव्यक्त करती हैं जिनसे हर दिल को किसी न किसी रूप में निस्बत हो सकती है. शिल्पा ने इस संग्रह का नाम 'पांचवां मौसम' इसलिए रखा कि वे मन के मौसम को पांचवा मौसम मानती हैं... लेकिन पहले के चार मौसम कौन से! वैसे तो मौसम तीन ही होते हैं और ऋतुएं छः... शायद वे ग्रीष्म को मन के मौसम में न उतरने देना चाहती हों.

बदलते परिवेश में कविता के धर्म को निभा पाना जटिल और चुनौती भरा है. ऐसे में शिल्पाजी की कविताएं अचरज में डाल देती हैं. इनमें न तो अकल्पनीयता है, न बड़े-बड़े बोझिल शब्द. वे मासूमियत से कहती हैं —

कोई विवाद नहीं कोई दावा भी नहीं,
आरज़ुओं की ये महफ़िल है,
जहां बैठे दीवाने बहल जाते हैं,
और परवाने जल जाया करते हैं.

इस पांचवें मौसम को मन का पूरी तरह छू लेना है शिल्पाजी की यह कोशिश हर पंक्ति की गवाह है जो साहित्य से गहरे सरोकारों को भी रेखांकित करती है. कहीं शिल्पाजी के स्वप्न भंग की पीड़ा है और कहीं आशा का दामन न छोड़ने का कारण भी.

जीवन की जटिलताओं को बहुत मार्मिक होकर कहना उनकी ख़ासियत है—

ख़ुशियों का दिल हमने न यूं तोड़ा होता,
काश, कभी तो ग़म ने हमें तनहा छोड़ा होता.

एक अन्य शेर में वे कहती हैं —

फिर भी लगी है चोट, किस्सा अजीब ये,
कांटों से बचाते क़दम फूलों पे जा गिरे थे हम.

और इसी तनहाई, ग़म और चोट को लिये उनका मन अथाह प्रेम से भर उठता है. प्रेम की तड़प, महबूब की बेरुख़ी और समाज की बेतुकी धारणाएं.... अजब हिसाब है शिल्पाजी के शिल्प का —

चलो आज़मा लें अपनी बेताबियां हम,
चलो कुछ रोज़ उनसे न मिला जाये.
कांच के सपने सा टूटी हूं कई बार,
हर इक चुभन में ख़्वाब झनझना गये हैं.
कह के भूल जाने को वो तो रुख़सत हो गये,
अरमानों पे क्या बीती ये न पूछिए.
ये मौसम की मदहोशियां उनसे मिलती हैं कितनी,
देखकर जिसे हम दीवानावार हुए जाते हैं.

इन चार शेरों में बेताबियां हैं तो ख़्वाबों का टूटना भी है और दिल के अरमानों की पीड़ा भी है. वे कहीं छंदबद्ध हैं तो कहीं छंदमुक्त. लेकिन उनका छंदमुक्त होना भी लयबद्धता को लिये चलता है.

शिल्पाजी ने पांचवा मौसम बनाकर पूरे ब्रह्मांड में कुछ इस तरह रचा बसा दिया है कि ज़िंदगी जब जहां भी रुके, ठहरे, प्रेम बस प्रेम को ही पाती है —

हर मकाम हर रहगुज़र में तू ही तू.
घर की हर शै में बसाया है तुझे.
ख़ुशबुओं सा महकता सांसों में है.
हाथों में मेंहदी सा रचाया है तुझे.

वो जिस प्रेममय संसार को कविता का हिस्सा बना रही हैं वो महज़ उसकी दर्शक नहीं बल्कि सदस्य हैं उसकी. करुणा को आत्मीयता से छू लेना और प्रेम के संकरे रास्ते से गुज़र जाना इन कविताओं की ख़ासियत है —

भेज कोई मौसम की निशानी या/दिल पे लिखी कोई कहानी भेज/ख़त लिखना तुझे गवारा न सही/बादलों

के संग कुछ मुंहज़बानी भेज/थम से जाते हैं लम्हे कभी-कभी/ चलती रहे ज़िंदगी इतनी तो रवानी भेज.

और प्रेम गली अति सांकरी से गुज़रते हुए वे इस दौर की हक़ीक़त भी बयां कर डालती हैं —

बेमतलब अपनाता नहीं कोई/तर्के ताल्लुक पे आंसू बहाता नहीं/यह सुविधावादी दौर है झूठ का/यहां झूठों को मनाता नहीं कोई.

कहीं भी शिल्पा चौंकाती नहीं बल्कि एक-एक पल को स्वयं जीती हुई बयां कर डालती हैं. उनकी सारी जद्दोजहद पीड़ा के रिश्ते से जुड़ी है पर वे उस पीड़ा को....'दुख तो अपना साथी है' की तर्ज़ पर आत्मसात करती संगिनी बनाती चलती हैं. प्यार के मापतौल में पहले अपनी ही अनुभूतियों को खंगालना, तह तक पहुंचना... सतह के ऊपर की परत को उघाड़ने से कहीं अधिक चुनौती भरा है.

चलो मरहम तलाशें,

टूटे पर और उम्मीदों के वास्ते, पंछी अपनी परवाज़ भूले ये तो मुमकिन नहीं.

और यह भी कि —

टूटकर शाख़ से बिखर जाऊं मंजूर नहीं मुझको,
फूल नहीं ख़ुशबू बनने का अरमान रहा है मेरा.

वे ज़िंदगी की सच्चाइयों से रूबरू होने के बावजूद एक क्षण को भी प्रेम को अपने से विलग नहीं होने देतीं. प्रेम की अनुभूतियों के विविध रूप, विविध क्षण, विविध रंग इस संग्रह में अंकित हैं. यह प्रेम तमाम दुनिया को अपनी परिधि में समेटता है. संयोग और वियोग में विचरण कराता है. यही तो है ज़िंदगी का आदि और अंत... वह निज से लेकर जग तक और लौकिक से लेकर अलौकिक तक कितने रूप ग्रहण कर सकता है.

ये कविताएं, ग़ज़लें, शेर इसका बोध कराते हैं. वैसे कविता और प्रेम एक दूसरे के पर्यायवाची हैं. प्रेम ही तो कविता की प्रेरणा भूमि है, रूप कोई भी हो. शिल्पाजी अपनी अनुभूतियों को शब्दों में ढाल पाठकों तक पहुंच जाती हैं. इसमें संदेह नहीं.

२०४, केदारनाथ को. हॉ. सो.,
सेक्टर-७, निकट चारकोप बस डिपो,
कांदिवली (प.), मुंबई-४०००६७

इंटरनेट ने खोले रास्ते

डॉ. कुमार विश्वास

स्वप्न मरते नहीं... (क. सं.) **: रजनी नय्यर(मल्होत्रा)**
प्रकाशक : शिवना प्रकाशन, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, सीहोर-४६६००१. **मू.** १२५ रु.

इन दिनों इंटरनेट की दुनिया पर जैसे हिंदी का विस्फोट सा हो गया है. हिंदी में काफ़ी कुछ रचा जा रहा है वहां पर. हालांकि अभी यह तय होना बाकी है कि जो कुछ भी इंटरनेट पर रचा जा रहा है उस सबको साहित्य का दर्ज़ा दिया जाये अथवा नहीं. लेकिन यह तो तय है कि इंटरनेट पर हिंदी कविता के माध्यम से एक पूरी नयी पीढ़ी अपने विचार लेकर आ गयी है. उन्हीं में रजनी नय्यर भी हैं. इनकी कविताओं में संवेदना है और भाव हैं, किंतु अभी शिल्प तथा व्याकरण को लेकर बहुत कुछ किये जाने की ज़रूरत है. लेकिन मुझे लगता है कि कवि होने के लिए सबसे पहली आवश्यकता है कविता के साथ जुड़ाव होना, यदि आपका कविता के साथ जुड़ाव है तो कविता आपके बाकी के रास्ते ख़ुद ही खोल देगी.

रजनी नय्यर भी उस इंटरनेट साहित्य की कवयित्री हैं जो ब्लॉग, आरकुट, फेसबुक और ट्वीटर जैसे कई सारे माध्यमों से फैलता जा रहा है. अब चूंकि उनकी कविताएं पुस्तक का रूप लेकर पाठकों के हाथ में आ रही हैं इसलिए अब उनको ज़्यादा सजग रहने की आवश्यकता है. चूंकि पुस्तक के रूप में आने का मतलब है एक बड़े पाठक वर्ग के हाथ में पहुंचना, पाठक वर्ग जो समीक्षक भी है और आलोचक भी. मैंने प्रारंभ से ही इस इंटरनेट के माध्यम से आ रहे साहित्य का समर्थन तथा उत्साहवर्द्धन किया है. क्योंकि मुझे लगता है कि साहित्य के इस संकट काल में यह माध्यम बहुत उपयोगी हो सकता है. बात तो केवल अभिव्यक्ति की है, तो फिर इंटरनेट क्यों नही? ठीक है आज इंटरनेट पर जो कवि तथा कविताएं हैं वे अपने प्रारंभिक दौर में हैं, लेकिन प्रारंभिक दौर में होना एक स्थिति है जो बीत जाती है. कल जब इंटरनेट पर हिंदी अपने प्रारंभिक दौर से गुज़र चुकी होगी तो हम देखेंगे कि इसी माध्यम से निकल कर कई सारे साहित्यकार हमारे पास होंगे. उस कल को यदि आते हुए देखना है

तो हमें इसके आज का उत्साहवर्द्धन करना ही होगा. यदि नहीं किया तो फिर हमें साहित्य को लेकर फ़िज़ूल की बातें भी नहीं करनी चाहिए.

रजनी नय्यर की कविताएं इंटरनेट की उसी पहली पीढ़ी की कविताएं हैं जो अपने प्रारंभिक दौर में है. शायद कोई और रचनाकार इन कविताओं की भूमिका लिखने से पहले एक बार सोचे, लेकिन मुझे लगता है कि ज़रूरत तो इन कवियों को आज है. पौधे को पानी से सींचने की ज़रूरत तब होती है जब वो अपनी प्रारंभिक अवस्था में होता है, बाद में तो विकास के सोपान पार करता हुआ वो स्वयं इतना समर्थ हो जाता है कि अपना पोषण स्वयं कर सके. इंटरनेट और कंप्यूटर के माध्यम से सामने आयी इस नयी पीढ़ी के पास विचार हैं, भाव हैं और कहने का अपना तरीका भी है. कई-कई बार तो नये तेवर भी दिखाई देते हैं. ऐसे में यह पीढ़ी इतनी आसानी से अपने आपको ख़ारिज होने देगी ऐसा नहीं लगता. हां, एक बात जो मैंने पहले भी कही वही दोहराना चाहूंगा, कि इन सारे रचनाकारों को अब व्याकरण के संतुलन की ओर भी ध्यान देना होगा. लेकिन जैसा कि लगता है ये नये रचनाकार भी उस चुनौती के लिए अपने को तैयार किये बैठे हैं. जैसा कि रजनी नय्यर की ही इस कविता में दिखाई देता है —

चुनौती के/सागर में/डूबना/तभी सफल/और/ आनंददायक/लगता है/जब/चुनौती का सागर/ गहरा हो.

रजनी नय्यर की कविताएं भी अपनी चुनौती के साथ स्वयं ही जूझ लेंगी. मैं शिवना प्रकाशन को भी अपनी ओर से साधुवाद देता हूं जो वे इंटरनेट की इस नयी पीढ़ी को पुस्तकों के माध्यम से साहित्य की असली दुनिया में लाने का काम कर रहे हैं. सीहोर जैसे सुदूर क़स्बे से उच्च गुणवत्ता की ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करना सचमुच ही एक ऐसा कार्य है जिसके लिए शिवना प्रकाशन बधाई का पात्र है.

'सहयोग', ३/१०८४, वसुंधरा, ग़ाज़ियाबाद (उ. प्र.)

निवेदन

इस अंक के साथ जिन ग्राहकों का शुल्क समाप्त हो रहा है उनसे निवेदन है कि शीघ्र ही अपने ग्राहक शुल्क का नवीनीकरण करा लें.

-संपादक

काश, मां के पास होते

संतोष कुमार तिवारी

चाहता था
थोड़ा समय बीमार मां के साथ गुजारूं,
सूख चुकी
उनकी टांगों पर लेट जाऊं
और कहूं - 'अम्मा, सुनाओ कोई कहानी'
उनके लाख चिड़चिड़ाने के बावजूद.
चाहता था
अम्मा के रोपे पौधों को पानी दूं
बचा सकूं
उन्हें मुरझाने से
अम्मा सरीखे उदास फूलों से बतियाऊं
उनका दुख-सुख
गुलमोहर से कान में पूछूं
'अम्मा को हंसते कब देखा,
सच-सच बताना?'
कई बार चाहा
पत्नी को खुलकर डांट लगाऊं
जब वह भुनभुनाती थी
अम्मा की आदतों पर
थोड़े दिन से अम्मा
ऊंचा सुनने लगी थीं।
हमेशा यही चाहा
कि अंतिम समय
मां को अपना कंधा दूंगा पहला
ठीक उस वक़्त
घर से हज़ार मील दूर था।
आज अम्मा को गवां चुकने पर
अपने आप से सिर्फ़
एक बात पूछता हूं–
क़्या इस दुनिया में
मुझे पैदा करने की ख़ातिर
पैदा हुई थीं अम्मा?

राजकीय इंटर कॉलेज, ढिकुली (रामनगर), जि. नैनीताल-२४४७१५

महिला-रचनाकार : अपने आइने में

(“कथाबिंब” के “आमने-सामने” स्तंभ में प्रकाशित सभी महिला-रचनाकारों के आत्मकथ्यों का संकलन.)

संपादक : डॉ. अरविंद

: प्रकाशक :
भारत विद्या निकेतन
१३१, चित्तरंजन एवेन्यू,
प्रथम तल, कोलकाता-७०० ०७३

: एक मात्र वितरक :
मानव प्रकाशन
१३१, चित्तरंजन एवेन्यू,
प्रथम तल, कोलकाता-७०० ०७३

मूल्य : २५० रु.

“*कथाबिंब*” के लेखकों और पाठकों के लिए २० % छूट. सीधे वितरक से संपर्क करें.

फ़ोन : ०३३-२२६८ ४८२२ व ०९८३१५ ८१४७९.

निवेदन

रचनाकारों से

*“**कथाबिंब**” एक कथाप्रधान पत्रिका है, कहानी के अलावा लघुकथाएं, कविता, गीत, ग़ज़लों का भी हम स्वागत करते हैं. कृपया पत्रिका के स्वभाव और स्तर के अनुरूप ही अपनी श्रेष्ठ रचनाएं प्रकाशनार्थ भेजें. साथ में यह भी उल्लेख करें कि **विचारार्थ भेजी गयी रचना निर्णय आने तक किसी अन्य पत्रिका में नहीं भेजी जायेगी.***

१. कृपया केवल अपनी अप्रकाशित और मौलिक रचनाएं ही भेजें. अनूदित रचना के साथ मूल लेखक की अनुमति आवश्यक है.

२. रचनाएं काग़ज़ के एक ओर अच्छी हस्तलिपि में हों या टंकित हों. रचनाओं की प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें. वापसी के लिए स्व-पता लिखा, टिकट लगा लिफ़ाफा व एक पोस्ट कार्ड अवश्य साथ रखें, अन्यथा रचना संबंधी किसी भी प्रकार का पत्राचार करना संभव नहीं होगा. रचना के साथ कवरिंग लेटर का होना आवश्यक है. अन्यथा रचना पर विचार करना संभव नहीं होगा.

३. सामान्यत: प्रकाशनार्थ आयी कहानियों पर एक माह के भीतर निर्णय ले लिया जाता है. अन्य रचनाओं की स्वीकृति की अवधि दो से तीन माह हो सकती है. कहानियों के अलावा चयन की सुविधा के लिए एक बार में कृपया एक से अधिक रचनाएं (लघुकथा, कविता, गीत, ग़ज़ल आदि) भेजें.

४. आप ई-मेल से भी रचनाएं भेज सकते हैं. ई-मेल का पता है : kathabimb@yahoo.com. रचना की “डॉक” फ़ाइल के साथ “पीडीएफ” फ़ाइल भी भेजें. साथ में यह घोषणा भी होनी चाहिए कि विचारार्थ भेजी रचना निर्णय की सूचना प्राप्त होने तक किसी किसी अन्य पत्रिका मे नहीं भेजी जायेगी.

“कमलेश्वर-स्मृति कथाबिंब कथा पुरस्कार-२०११”

अभिमत-पत्र

वर्ष २०११ के सभी अंकों में प्रकाशित कहानियों के शीर्षक, रचनाकारों के नाम के साथ नीचे दिये गये हैं. वर्ष २०११ के चारों अंक **“कथाबिंब”** की वेबसाइट www.kathabimb.com पर उपलब्ध हैं. पाठक अपनी पसंद का क्रम (१,२,३,...७, ८) सामने के खाने में लिखकर हमें भेजें या ई-मेल करें. आप चाहें तो इस **अभिमत-पत्र** का प्रयोग करें अथवा मात्र आठ कहानियों का क्रम अलग से **एक पोस्टकार्ड** पर लिख कर भेज सकते हैं. प्राप्त अभिमतों के आधार पर पिछले वर्षों की तरह ही सर्वश्रेष्ठ कहानी (१००० रु. – एक), श्रेष्ठ कहानी (७५० रु. – दो) तथा उत्तम कहानी (५०० रु. के पांच) पुरस्कार घोषित किये जायेंगे. जिन पाठकों की भेजी क्रमवार सूची अंतिम सूची से मेल खायेगी उन्हें **कथाबिंब** की **त्रैवार्षिक सदस्यता (१२५ रु.)** प्रदान की जायेगी. **कथाबिंब** ही देश की एकमात्र पत्रिका है जिसने इस तरह का लोकतांत्रिक आयोजन प्रारंभ किया हुआ है. इसकी सफलता इसी में है कि ज़्यादा से ज़्यादा पाठक अपना निष्पक्ष मत व्यक्त करें. पाठकों का सहयोग ही हमारा मुख्य संबल है.

कहानी शीर्षक / रचनाकार	आपका क्रम
१. **कहानी कभी नहीं मरती** – सुशांत सुप्रिय	
२. **‘उस रात समय वहीं था!’** – रोशन वर्मा ‘रौशन’	
३. **बुलाकी** – संजीव निगम	
४. **मौत का खेल** – मुकुंद लाल	
५. **आजकल** – डॉ. स्वाति तिवारी	
६. **उसका फैसला** – डॉ. पुष्पा सक्सेना	
७. **मोक्षदायिनी** – सुभाष चंद्र गांगुली	
८. **वापसी** – उषा भटनागर	
९. **टुटपूंजिया** – गोविंद उपाध्याय	
१०. **बंद ताला** – डॉ. मीनाक्षी स्वामी	
११. **‘नवारंभ’** – राजेंद्र वर्मा	
१२. **‘दबंग’** – डॉ. इला प्रसाद	
१३. **‘नहीं, वह गंगा ही था !’** – ललित निरंजन	
१४. **छोटे लोग, बड़े लोग** – सुमन सारस्वत	
१५. **‘मां, तुम कहां हो!’** – अमर स्नेह	
१६. **कैसे हंसूं ?** – सुशांत सुप्रिय	
१७. **शायद आसिफ भी यही सोच रहा होगा** – डॉ. रमाकांत शर्मा	
१८. **टुकड़े-टुकड़े काग़ज़**– डॉ. भाग्यश्री गिरी	
१९. **कंबलदान** – प्रशांत कुमार सिन्हा	
२०. **राम लखन का ...** – डॉ. निरुपमा राय	

With Best Compliments From :

Suresh Chanchaldas
Sudhir Chanchaldas

Abhishek A. Asrani
Miraa A. Asrani

CHANCHALDAS INVESTMENTS

Builders and Developers

ABHISHEK A. ASRANI
99203 33999

Head Office :

A-102, Swami Jairamdas Society,
Opp. Chembur Police Station,
Chembur, R.C. Marg,
Mumbai - 400 074.
Tel. : 2527 1297 Fax : 2528 2072

Branch Office :

Shop No.14, Persipolis, Ground Floor,
Near Domino's Pizza,
Sector - 17, Vashi,
Navi Mumbai - 400 703.
Tel. : 2789 0970 / 2765 3035

WE HAVE ONGOING PROJECTS IN CHEMBUR AND NAVI MUMBAI BOTH RESIDENTIAL AND COMMERCIAL